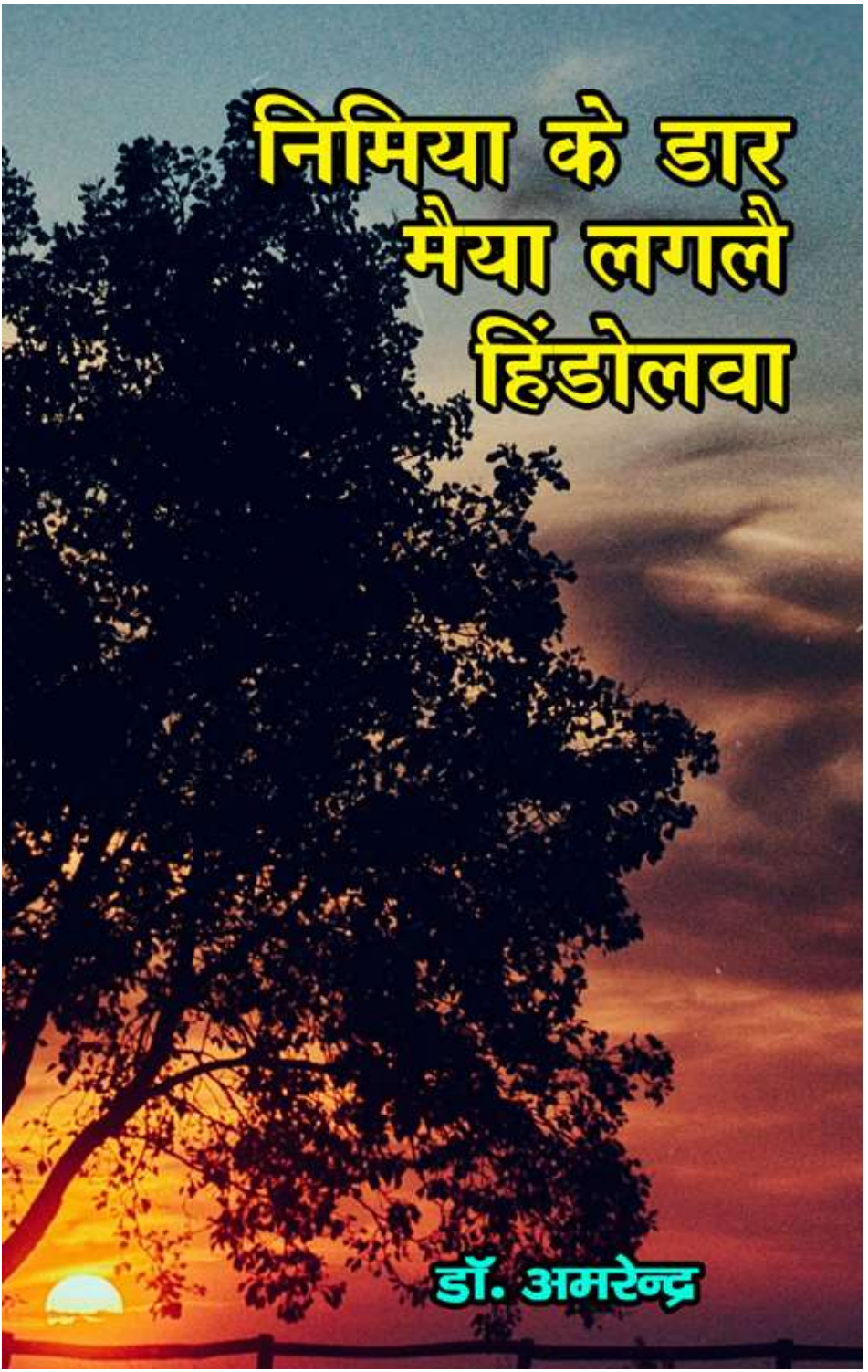
निमिया के डार
मैया लगलै
हिंडोलवा
डॉ. अमरेन्द्र

निमिया के डार मैया लगलै हिंडोलवा

(हिन्दुस्तान, दैनिक जागरण, दैनिक भास्कर (भागलपुर)
तथा जनसत्ता (दिल्ली) में प्रकाशित आलेखों का संग्रह)

डॉ. अमरेन्द्र

समीक्षा प्रकाशन
दिल्ली/मुजफ्फरपुर

ISBN : ९७८-८१-८७८५५-६३-७

प्रथम संस्करण
२०२२

सर्वाधिकार ©
लेखकाधीन

प्रकाशक
समीक्षा प्रकाशन
जे. के. मार्केट, छोटी कल्याणी
मुजफ्फरपुर (बिहार)-८४२ ००१
फोन : ०९३३४२७९९५७, ०९९०५२९२८०१
E-mail : samikshaprakashan@yahoo.com
www. samikshaprakashan.blogspot.com

दिल्ली कार्यालय
आर-२७, रीता ब्लॉक
विकास मार्ग, शकरपुर, दिल्ली-९२
फोन : ०९९११४७८६६८

शब्द-संयोजन
सतीश कुमार

आवरण
www.coolhdwall.com (#ID 2198) से साभार

मुद्रक
बी.के. ऑफसेट,
शाहदरा, दिल्ली।

मूल्य
दो सौ रूपये मात्र

Nimiya Ke Daar Maiya Laglai Hindolva
By Dr.Amrendra Rs.200/-

अपनी शिलावत् माँ

पंचा देवी

की स्मृति में

जिसे मैंने न कभी खुलकर हँसते देखा

और न कभी खुलकर रोते ही !

—अमरेन्द्र

कुछ कहना है, तो यही कहूँगा...

लिखता रहा, छपते रहे, कुछ बच गये, बाकी खो गये। आकाशवाणी से प्रसारित 'कामायनी' 'यशोधरा', 'उसने कहा था' जैसे काव्य-कहानियों के प्रसारित नाट्य रूपांतरों को भी सुरक्षित नहीं रख पाया । छोटे बेटे अभिनंदन और बेटी वसुन्धरा की सजगता से जो आलेख बच पाए, पूर्व प्रकाशित दो संग्रहों 'शब्दसाधक और साहित्य' तथा 'संस्कृति और साहित्य' में संकलित हैं । 'निमिया के डार मैया लगलै हिंडोलवा' बचे प्रकाशित आलेखों का तीसरा संकलन आप के सामने है ।

—डॉ. अमरेन्द्र

दीपावली

२४ अक्टूबर २०२२

सम्पर्क : लाल खां दरगाह लेन,
सराय, भागलपुर, बिहार-८१२००२
मो. - ९९३९४५१३२३, ८३४०६५०६७९

आलेख-क्रम

१. ऐसे थे चम्पा के वेदाभ्यासी ब्राह्मण / ७
२. सुनो विशाखा अमरपुर तुम्हें नहीं जानता / १०
३. जब भरखर रात में भोर हो गया / १३
४. अंग प्रदेश की होली, होली का अंगप्रदेश / १६
५. घग्घो रानी, कत्तें पानी ? / २०
६. नदिया के तीरे-तीरे हे घँटेसर खेलै छै शिकार / २४
७. हाँ, परशुराम और दुर्वासा, दोनों अंगप्रदेश के ऋषि थे / २९
८. पावस में कठोर व्रत का प्रण और अंगप्रदेश की राजकुमारी वसुमति / ३३
९. दादुर का दर्द / ३६
१०. अपने समय से बहुत आगे थी, अंग की बेटी, बिहुला / ४०
११. अंगप्रदेश में शिवलिंग-पूजन की पृष्ठभूमि और लोकविश्वास / ४५
१२. चम्पा की सवासिन थी सम्राट अशोक की माँ / ४९
१३. कितने ही करो सवाल : उत्तर एक कुणाल / ५२
१४. 'अ' से आलोचक, 'क' से कथा-कविता, 'ग' से गोष्ठी / ५६
१५. निमिया के डार मैया लगलै हिंडोलबा कि झूमी-झूमी / ६०
१६. बयालीस का बब्बर : शहीद सम्राट महेन्द्र गोप / ६३
१७. यह, अंगप्रदेश के महाजनक की कथा है / ६७
१८. लाली-लाली डोलिया चढ़ी ऐलै कालिका मैया / ७०
१९. हमरा पर होय्यौ सहाय हे छठी मैया / ७४
२०. कविता कहाँ बिकती है, कुर्सियाँ बेच रहा हूँ / ७७
२१. समुद्र-मंथन और मंदार : मिथ या इतिहास का सच / ८०
२२. हो पन्ना दा, की-की होलै अबकी बौंसी मेला में ? / ८४
२३. अंग महाजनपद देश और प्रदेश का आंतरिक उपनिवेश-सा हो गया है / ८७
२४. बारह बरस में बारह कोस चली थी बरप्पा की रानी लचिका देवी / ९०
२५. अंगिका होली गीतों में रंगों का राग और रागों का रंग / ९४
२६. शहर, साहित्यकार, स्वास्थ्य और योग / ९९
२७. यानी एक हजार ४५४ कि.हर्ट्ज पर आकाशवाणी का यह भागलपुर.../ १०३
२८. भगवान राम के पदरज से अंगप्रदेश का रोम-रोम भीगा है / १०६
२९. 'जों कोय मारतै गोली, बोलवै अपने बोली' / ११०

ऐसे थे चम्पा के वेदाभ्यासी ब्राह्मण

विख्यात इतिहासकार माउंट गोमरी ने अपने प्रसिद्ध इतिहास ग्रंथ 'इम्पीरियल गेजिटियर ऑफ इंडिया' में अंग प्रदेश को सांस्कृतिक समृद्धि की दृष्ट से विश्व का सर्वाधिक अनुपम भूखंड लिखा है और लिखा है कि इस प्रदेश का फेंका हुआ कोई शिलाखंड भी इतिहास का कीमती स्रोत है । ऐसी स्थिति में चम्पा के बारे में कोई सहज ही सोच सकता है, जो चम्पा अंग देश की राजधानी रही है वह चक्रवर्ती राजा कर्ण की राजधानी चम्पा सिर्फ कर्ण की कीर्ति से ही स्वर्णमंडित नहीं है, यह जैन पंथ के कई तीर्थंकरों की कथाओं से भी दिव्य बनी हुई है । यहाँ कभी ब्राह्मण धर्म भी अपने उत्कर्ष पर रहा और उसी ब्राह्मण धर्म की कथा सुन कर भगवान बुद्ध भी चम्पा उतर आये थे ।

यह बात तब की है, जब अंग देश बिम्बिसार का उपनिवेश बन गया था, लेकिन तब भी अंग का उपनिवेश विश्व के आधे हिस्से पर छाया हुआ था । भगवान बुद्ध चम्पा पहुँच कर गर्गरा झील के किनारे शीतल, शांत वन में ठहरे । इस बात की जानकारी जब चम्पा के धनी ब्राह्मण दार्शनिक स्वर्णदंड को हुई, तो उन्होंने बुद्ध से मिलने का निर्णय लिया । गुरू का निर्णय सुना, तो शिष्यों ने अपनी अस्वीकृति जताई । लेकिन स्वर्णदंड ने अपने शिष्यों को यह समझाते हुए अपने निर्णय को उचित ठहराया कि बुद्ध जैसे महान दार्शनिक के दर्शन तो हजार वर्षों के बाद भी दुर्लभ है और फिर मुझे उनके पास पहुँच कर यह देखना है कि उनके किस ज्ञान के समक्ष मैं कम सिद्ध होता हूँ और मेरे किस ज्ञान के समक्ष बुद्ध मलीन पड़ते हैं । ऐसा कह स्वर्णदंड अपने सैकड़ों शिष्यों के साथ भगवान बुद्ध के पास पहुँच गये ।

भीड़ के कम होने पर जब स्वर्णदंड की बारी आई, तो वह यह समझ ही नहीं पा रहे थे कि आखिर प्रश्न कहाँ से और किस तरह शुरू किया जाए । इस पर भगवान बुद्ध ने ही बातों का सिलसिला प्रारंभ करने के ख्याल से स्वर्णदंड से पूछा—स्वर्णदंड क्या आप बता सकते हैं कि एक श्रेष्ठ ब्राह्मण होने के लिए उनमें किन-किन गुणों का होना अनिवार्य है ? हो सके तो वेदों से उद्धरण भी देते जाएं।

यह सुन कर स्वर्णदंड बहुत खुश हुए, क्योंकि वह स्वयं वेद के महान जानकार पंडित थे । स्वर्णदंड ने कहा कि सच्चे ब्राह्मण होने के लिए उसमें आकर्षक व्यक्तित्व, मंत्रोच्चार और कर्मकांड कराने की निपुणता के अतिरिक्त सात पीढ़ियों की रक्त-शुद्धता और उदारता व कर्मज्ञान का होना आवश्यक है ।

सुनकर भगवान बुद्ध ने पूछा कि इन पाँचो गुणों मे क्या ऐसे गुण हैं जिनके नहीं होने पर भी ब्राह्मण होने की श्रेष्ठता कम नहीं होती ? यह सुनकर स्वर्णदंड ने कुछ पलों के मौन के बाद कहा—इन पाँचों गुणों में अंतिम दो गुण श्रेष्ठ ब्राह्मण की निपुणता के लिये अनिवार्य नहीं हैं ।

स्वर्णदंड की ये बातें सुनते ही उनके साथ आये अन्य ब्राह्मण नाराज हो गये और विरोध में हाथ हिलाते हुए यह कहने लगे कि इससे ब्राह्मण जाति की निंदा हुई है । विषम स्थिति देखकर महात्मा बुद्ध ने कहा—मान्य प्रतिनिधियों, अगर आप सबों को स्वर्णदंड की बातों सें इन्कार है, तो आप सब शांत होकर उस व्यक्ति के बारें में बताएँ, जिससे मैं बातें कर सकूँ, अन्यथा मान्य स्वर्णदंड को अपनी बातें कहने दें ।

बुद्ध की बातों से जब शांति छा गई, तो पुनः स्वर्णदंड ने अपने शिष्यों की ओर देखते हुए कहा कि मेरा चचेरा भाई अंगक सुंदर मनोहारी युवक है । वह अभिजात्य संस्कार का ही नहीं, मृदुल व्यवहारवाला भी है । वह श्रेष्ठ वेदाभ्यासी भी है । अंगक अपने मातृकुल और पितृकुल से भी सात पीढ़ियों तक की रक्तशुद्धता का दावा कर सकता है । लेकिन अगर उसमें कोई असत्य भाषण, बलात्कार और हत्या की भी प्रवृति है, तो सुंदर देहयष्ठि, प्रभावकारी मंत्रोच्चार, कर्मकांड की निपुणता ओर रक्त की शुद्धता का क्या मतलब ? इसी से मैंने भिक्षु बुद्ध से कहा है कि श्रेष्ठ कर्म और ज्ञान ही श्रेष्ठ ब्राह्मण होने के आधार गुण हैं।

स्वर्णदंड की ज्ञानपूर्ण बातें सुन बुद्ध के चेहरे पर संतोष का भाव झलक उठा और उन्होंने पुनः उनसे प्रश्न किया कि श्रेष्ठ कर्म और ज्ञान में सबसे अधिक महत्वपूर्ण क्या है ? इस पर स्वर्णदंड ने कहा—भिक्षु गौतम, सदाचारयुक्त कर्म से ज्ञान बढ़ता है और ज्ञान से सदाचारपूर्ण कर्म करने की प्रेरणा मिलती है। इन दोनों को अलग-अलग करके नहीं देखा जाना चाहिए ।

बुद्ध का चेहरा प्रसन्नता से खिल उठा और उन्होंने कहा—साधुवाद, स्वर्णदंड ! क्या आप यह भी बता सकते हैं कि सद्कर्मों और ज्ञान को उच्चतर स्तर पर कैसे लाया जा सकता है ? इस पर स्वर्णदंड ने कहा—गुरूदेव, इस दिशा में आप ही मार्ग-निर्देश कर सकते हैं । तब भगवान बुद्ध ने स्वर्णदंड को कर्म और ज्ञान को उच्चतर स्तर पर लाने के मार्ग का उपदेश दिया, जिसे सुनकर स्वर्णदंड अपने शिष्यों सहित 'बुद्धं शरणम गच्छामि, धम्मं शरणम् गच्छामि, संघं शरणम् गच्छामि' कहते हुए बुद्ध की शरण में चले गये । संघ की शरण में जाने की घोषणा के पूर्व स्वर्णदंड ने बड़ी विनम्रता से बुद्ध से कहा था—भगवन, आपने शीलाचार, ध्यान और प्रज्ञा के बारे में विशेष ज्ञान देकर मुझे अंधकार से मुक्त कर दिया है।

आपने मेरी आँखें खोल दी हैं, आप मेरी कृतज्ञता स्वीकार करें और मुझे संघ में प्रवेश की अनुमति दें और साथ ही भिक्षुओं को अपने गृह में सत्कार का दुर्लभ अवसर मुझे प्रदान करें और ऐसा कह स्वर्णदंड ने अपने हाथ जोड़ लिए थे । स्वर्णदंड के संघ में प्रवेश के साथ ही अनेक ब्राह्मण बुद्धिजीवी संघ की शरण में चले गये, जिनमें चम्पा के प्रख्यात वेदाभ्यासी ब्राह्मण अम्बष्ट ही नहीं, उनके गुरू पुष्करादि भी सम्मिलित थे ।

मैं चम्पा की गलियों और राहों पर भटकते हुए सोचता हूँ कि जो इतिहासकार यह बतलाने की कोशिश करते हैं कि बौद्धों और ब्राह्मणों के बीच धार्मिक वैमनस्य रहा और इसी कारण अंग की धरती पर प्राचीन विक्रमशिला विश्वविद्यालय का ध्वंस हो गया या फिर और-और....उन्हें अंग की राजधानी चम्पा के उन ब्राह्मण बुद्धिजीवियों, दार्शनिकों की कहानी और उनके आदर्श व्यवहार के इतिहास को भी उलटना चाहिए ।

(दैनिक जागरण : १७ मई २००५)

सुनो विशाखा अमरपुर तुम्हें नहीं जानता

वर्षों पूर्व जब मैं अपने गाँव रूपसा की सीमा से लगी चानन नद्दी को पार कर रहा था, तब नदी की सूखी रेत पर चलते हुए हठात् ही हजारों वर्ष पूर्व की कथा याद आ गई—जब महात्मा बुद्ध ने इसी नदी के किनारे वर्षावास किया था । तब चानन का वेग पूर्ण यौवन पर रहता था । आज की तरह यह नहीं सूखती थी । रेत पर चलते हुए मेरी आँखें भदरिया गाँव की ओर चली जाती हैं।

भदरिया-बुद्धकाल का भद्दय नगर, और फिर इस अंचल का अतीत आँखों में तैरने लगता है । भदरिया के महासेठ मेण्डक । मेण्डक के पुत्र धनंजय और पुत्रवधू सुमना और धनंजय की ही पुत्री-विशाख । महात्मा भद्ध पहुँचे हैं और सात साल की बच्ची विशाखा अपने दादा मेण्डक की आज्ञा लेकर पाँच सौ कुमारियों ओर पाँच सौ दासिशें के साथ महात्मा बुद्ध के दर्शन करने पहुँची है । बुद्ध के प्रवचनों से विशाखा अभिभूत हुई जा रही है ।

मेरी आँखों मे नया दृश्य उतर आता है । बारह वर्षीय विशाखा अपने माता-पिता के साथ कौशल राज्य के राजा प्रसेनजीत के निमंत्रण पर अपने गाँव को छोड़कर साकेत में जा बसती है । विवाह योग्य हो गई है, विशाख । पिता धनंजय ने श्रावस्ती के सेठ मिगार के पुत्र पुण्यबर्द्धन के साथ पुत्री विशाखा का विवाह तय किया है ।

अंग महाजनपद के महासेठ की पौत्री विशाखा का विवाह है । धनंजय ने इस विवाह में राजा प्रसेनजीत को भी आमंत्रित किया है । बारातियों का सम्मान राजाओं के सम्मान की तरह हो रहा है । कई सप्ताह बीत गए हैं पर बारातियों को विदा करने के संबंध में कोई चर्चा नहीं हो रही है, कारण कि विशाखा के लिए जो हार बन रहा है—वह इतने-इतने स्वर्णकारों के रहने के बाद भी नहीं बना है । राजा प्रसेनजीत धनंजय को खबर भेजते हैं कि बारात विदा की जाए, आखिर कब तक उनके भोजन-पानी की व्यवस्था की जाती रहेगी ? धनंजय प्रसेनजीत से आकर कहते हैं, ''अब तो वर्षारंभ हो गया है । वर्षाकाल तक एक जगह रूके रहना ही शास्त्रसम्मत है । अतः विदा करने पर बारात प्रस्थान करे ।'' बारात चार महीने और रूक गई है । विशाखा का आभूषण, तीन महीने पूरा हो जाने के बाद भी पूरा नहीं हो पाया है । धनंजय का एक सेवक खबर देता है—भोजन-पानी की कमी नहीं है लेकिन वर्षा के कारण जलावन की लकड़ी का अभाव हो रहा है । धनंजय कहते हैं—हथसार, छोड़सार ओर गोशाला की

लकड़ियाँ जला दो !

वे भी खत्म हो जाता हैं । धनंजय आदेश देते हैं कि कपड़े के गोदामों को खोल दिया जाए और साड़ियों-धोतियों की बत्तियाँ बना उन्हें ही तेल मे डालकर उनसे जलावन का काम लिया जाए । वही होता है । वर्षाकाल बीत रहा है । विशाखा का आभूषण भी बनकर तैयार हो गया है । नौ करोड़ मूल्य का आभूषण । विशाखा अपने पति पुण्यवर्द्धन के साथ विदा हो रही है । पिता धनंजय अंगदेश के सम्मानानुकूल ही कन्या के साथ पाँच सौ दासियाँ, पाँच सौ उततम रथ, सौ-सौ की संख्या में बहुमूल्य वस्तुओं से लदी चौवन सौ बैलगाड़ियाँ दी हैं । पूरे साकेतवासी की आँखें भीगी हुई हैं, स्वयं पिता धनंजय भी अपनी आँखों को छलछलाने से नहीं रोक पा रहे हैं ।

मेरा मन कुछ-कुद उदास हो जाता है, शायद यह सोच कर कि भदरिया के वे दिन अब शायद ही बहुरेंगे । मेरी आँखों के सामने चानन की सूखी छाती पसरी हुई है । कभी बचपन में मैंने इसे पानी से उब-डुब करते देखा था । इसी नदी के किनारे वृक्षों की पांत देखी थी—अब कुछ नहीं है । उजाड़ सूखा प्रांत । वह संपन्नता भी अब अमरपुर को प्राप्त नहीं है—न वह मिजाज, न लोगों के प्रति मोह । हठात मुझे फिर ख्याल आ जाता है विशाखा के उस महार्घ आभूषण का जिसे विशाखा ने बुद्धधर्म के लिए न्यौछावर कर दिया था । 'धम्मपद अट्ठकथा' में उल्लेख आया है कि भगवान बुद्ध प्रवचन करने वाले हैं । विशाखा अपने महार्घ को अपनी सखि सुप्रिया को सौंप कर प्रवचन सुनने जाती है—आभूषण पहन कैसे जा सकती है ? प्रवचन से लौटती है, तो सुप्रिया कहती है—वह तो उसे वहीं भूल आई । विशाखा उसे लाने को कहती है लेकिन इस आदेश के साथ कि अगर किसी भिक्षुक ने हाथ लग गया हो, तो मत वापस लेना । सुप्रिया जानती है कि भिक्षुक आनंद ने उसे सुरक्षित रख दिया है । अब क्या हो ? आनंद कहते हैं कि वह उसे ले नहीं सकते क्योंकि धर्म में धातु-ग्रहण वर्जित है ओर विशाखा भी उसे धारण नहीं कर सकती है । नगर में ऐसा कौन सा सेठ है जो उस महार्घ आभूषण को खरीद सके ?

आखिर विशाखा स्वयं उस आभूषण का मूल्य चुकाती है और उससे प्राप्त नौ करोड़ की राशि से जमीन खरीदती है—जिस जमीन पर भिक्षुणी विशाख एक ऐसा बौद्ध विहार बनवाती है जिसके नीचे वाले तल में पाँच सौ कोठरियाँ हैं और ऊपर भी पाँच सौ कोठरियाँ । एक सौ बीस वर्षों तक जीती रही विशाखा—बौद्ध धर्म के लिए ।

मेरे पाँव रूक जाते हैं—चानन की फैली धरती पर बुद्ध के चरणों के

चिन्ह ढूंढने के लिए । पर कहाँ मिलेंगे बुद्ध के चरण-चिन्ह ? विशाखा का गाँव भद्दय भी तो वह भद्दय नहीं । मेरे एक साथी ने बतलाया कि अंगमहाजनपद का का ही कोई अंचल था जहाँ अंगुलीमाल ने बुद्ध को रूकने के लिए कहा था। मेरा पूरा शरीर सिहर जाता है और मैं जल्दी-जल्दी नदी पार कर जाता हूँ । विशाखा के गाँव की ओर, यह जानते हुए भी कि वहाँ के लोग विशाखा को भूल बैठे हैं ।

(दैनिक जागरण : १७ जनवरी २००६)

जब भरखर रात में भोर हो गया

और उस मधुर संगीत से बंधा हिरण चौकड़ी भरता बैजू के सामने आ खड़ा हुआ । एकदम मंत्रमुग्ध । बैजू ने हिरण के गले में अपने गले की माला डाल दी.....यह कहानी किसको मालूम नहीं है, लेकिन आज यह किसे मालूम है कि अंग प्रदेश की राजधानी चम्पा में कभी संगीत की महादेवी गंदर्भदत्ता के संगीत का जादू सम्पूर्ण भारत में व्याप्त था । गंदर्भदत्ता, चम्पा के महासेठ भानूदत्त के पुत्र चारूदत्त श्रेष्ठी की पालिता कन्या थी—जितनी रूपवती, उतनी ही गंधर्वविद्या में दक्ष ।

अविवाहित थी गंदर्भदत्ता, क्योंकि विवाह के लिए उसने एक शर्त रखी थी—जो उसे संगीत-विद्या में परास्त करेगा, वही उसका पाणी-ग्रहण भी करेगा। कितने-कितने गंदर्भवेद-दक्ष परास्त हो चुके थे, पता नहीं । यह बात जब चम्पा में भ्रमण को आए वसुदेव ने जानी, तो उन्होंने गंदर्भदत्ता को गंदर्भविद्या से जीतने की बात सोची । लेकिन उस तक पहुँच कैसे हो, यह संगीत में विजय से कम कठिन नहीं था ।

वसुदेव ने पूछताछ की, तो पता चला कि सुग्रीव और जयग्रीव ही चम्पा के ऐसे गन्धर्व वेदाचार्य हैं, जिनकी पहुँच गंधर्वदत्ता की संगीत-सभा तक है। डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव के एक उल्लेख से ज्ञात होता है कि तब वसुदेव ने अपना नाम बदल कर स्कन्दिल कर लिया था । यह कथा प्रसिद्ध प्राकृत जैनग्रंथ 'वसुदेव हिण्डी' की है, जो ग्रंथ संभवतः ईसा के तीसरी या चौथी सदी में लिखा गया है।

कथा से ही ज्ञात होता है, छद्म नामधारी वसुदेव ने कैसे सुग्रीव को अपने पक्ष में किया, उनकी पत्नी को अपने साथ लाए कंगन में से एक को उपहार देकर । फिर आचार्य के नहीं चाहने पर भी वह दूसरे कंगन को भी देकर किस तरह श्रेष्ठी की संगीत-सभा में जा पहुँचता है । आचार्य की उपेक्षा के बावजूद वह सभा की तारीफ कर सभा को अपने पक्ष में करता है । संगीत की उस निर्णय-सभा में वसुदेव को भी अवसर मिलता है, अपनी गंधर्वकला के प्रदर्शन का।

मुग्ध वसुदेव घोषवती वीणा पर विष्णु गीत के संगीत को उतारता है, जिससे न केवल संगीत-सभा के सभाध्यक्ष चारूदत्त हतप्रभ रह जाते हैं, बल्कि पर्दे के पीछे आसीन गन्धर्वदत्ता भी अभिभूत हो सभा समक्ष उपस्थित हो जाती है। फिर वसुदेव और गन्धर्वदत्ता के बीच संगीत-संगति हुई, जिसमें वसुदेव की संगीत-दक्षता से मुग्ध होकर उसने उसे पतिरूप में स्वीकार कर लिया।

लेकिन यह कथा तो चंपा की गन्धर्वदत्ता की है । कई सौ दशक पूर्व की कथा। मांगन खवास की नहीं। मांगन खवास की कहानी को बीते तो पैंतीस-चालीस वर्ष से ज्यादा नहीं हुए होंगे, लेकिन कुछ ऐसी कि, जैसे सदियों पुरानी कथा लगे, एकदम लोककथा-सी । लेकिन लोककथा नहीं है यह । यह अलग बात है कि मांगन खवास के बारे में अंग प्रदेश के लोग ही अब नहीं के बराबर जानते। किसी से भी पूछिए, नहीं बता पाऐंगे लोग आपको मांगन के बारे में।

पैंतीस-चालीस वर्ष पहले की यह घटना, पैंतीस-चालीस सौ वर्ष पहले की घटना-सी बन गई है ।

कुछ को ब्रह्मचारी जी के बारे में तो ज्ञात है, पर मांगन के बारे में नहीं। संगीत कला में दक्ष ब्रह्मचारी जी नेपाल के थे, नेपाल के राजघराने से भी इनका संबंध था । बिहार में इनके शिष्य कई थे और आज भी होंगे, इसीसे इनका बिहार आना-जाना बना ही रहता था । सुनते हैं, गर्मी के मौसम में जब भी वह यहाँ आते, तो सोते-बैठते समय उनके दोनों ओर बर्फ की सिल्लियाँ रखी जातीं—तभी उन्हें आराम मिलता । ये बातें भागलपुर स्टेशन चौक पर वाद्यमंत्रों की प्रतिष्ठित दुकान के मालिक बताते हैं, जिस दुकान पर अब भी ब्रह्मचारी जी की तस्वीर लटकी हुई है । दुकान भी ब्रह्मचारी जी के निर्देश पर ही खुली थी, जहाँ वह प्रायः बैठते ।

ब्रह्मचारी जी से जुड़ी कई बातें होती हैं, लेकिन मांगन खवास पर मौन हो जाते हैं कहनेवाले । पर ऐसा भी नहीं कि मांगन को अब कोई जानता ही नहीं। कुछ एक को बहुत कुछ पता है—उनके बारे में । बताते हैं—बरारी की गंगा के उस पार पचगछिया के राजा का नौकर था मांगन । दिनभर के काम के बाद रात के एकान्त में मांगन डूब जाता था संगीत की साधना में । एक जादू तैरता था उसके स्वर में ।

उसने गायन की यह कला राजा के यहाँ लगने वाली संगीत सभा से सीखी थी । सभा में गा नहीं सकता था वह—उसे वह सामाजिक दर्जा प्राप्त ही नहीं था कि उन संगीत विशारदों के बीच बैठ सके । इसीसे रात्रि की निस्तब्धता ही उसके लिए संगीत-सभा बन गई थी । अभ्यास मनुष्य को क्या नहीं देता है ? मांगन खवास संगीत में नहीं उतरता चला गया, संगीत ही उसमें उतरता चला गया। सुरसाधक सुरसम्राट हो गया ।

और एक दिन जब राजा ने रात में ही सुबह होनेवाले चिड़ियों के कलरव को सुना, तो वह आश्चर्य में डूब गया । सुबह नहीं हुई थी, और सुबह हो गई थी। चिड़ियों का शोर था और आँगन से उठ रहा एक अश्रुत सुर । राजा दबे पाँव कमरे

से बाहर हुआ, तो दृश्य देख संज्ञाशून्य होने लगा । एकदम भोर का-सा दृश्य हो गया था मांगन खवास के सुरों से और तब खवास, खवास नहीं रह गया था, राजा की सारी श्रद्धा और आदर का पात्र बन गया था ।

मांगन की कीर्ति उसके संगीत की तरह सब को उन्मादित करने लगी थी। सुनते हैं, इसीसे प्रभावित होकर सुल्तानगंज के राजा ने अपनी हवेली में मांगन को बुलाया । संगीत की सभा लगी और मांगन का सुर सुरों के मेघ पर चढ़ हवेली से बाहर हवाओं में आन्दोलित हो उठा । दिशाओं की धड़कनें ठहर-सी गई थीं और मुग्ध प्रकृति भी शिलावत-सी । जैसे प्रकृति और जगत की सारी चंचलताओं को बांध दिया था मांगन खवास ने ।

संगीत के सरस्वती पुत्र ब्रह्मचारी जी उस दिन उसी राह से कहीं जा रहे थे, संभव हो हवेली की संगीत-सभा में ही । उन्होंने मांगन के सुर को सुना, तो बैजूवाला मुग्ध हिरण की तरह उसी ओर बढ़ गए, जहाँ से खवास के सुर की गंगोत्री फूट रही थी ।

सामने ब्रह्मचारी जी को देखा, तो मांगन खवास ने गायन रोका । वरदान पाने की मुद्रा में झुका । लेकिन ब्रह्मचारी जी वरदान किसे देते । सामने मांगन नहीं, अपनी सम्पूर्णता में संगीत ही जैसे साकार था, वरदान जिसके पीछे हाथ जोड़े खड़ा था । बस इतना ही कह पाए श्रद्धाभाव से भरे ब्रह्मचारी जी—जिसे पाने के लिए, मैं आजतक कठिन से कठिनतम साधना कर रहा हूँ, और जिसे मैं आजतक छू भर पाया हूँ, उसे तुमने अपनी एकान्त साधना से सम्पूर्णता में पा लिया है । तुम मेरी आँखों में आँसू देखकर कुछ और मत समझना । मांगन, संगीत के इस क्षितिज को छूनेवाला धरती के मोह से छूट जाता है । अब तुम्हें भी धरती नहीं बांध सकती । और कहते हैं, मांगन खवास ने कुछ दिनों के बाद ही धरती का मोह छोड़ दिया था । संगीत के इस दूसरे बैजूबाबरा की कहानी पहली बार मैंने काव्य और संगीत के साधक राम शर्मा 'अनल' और डॉ. सत्यानन्द से सुनी थी, और तब से मैं कितने लोगों से पूछता रहा हूँ—मांगन खवास के बारे में।

इस खोज में कितने ही सुर-साधकों की कहानियाँ सुनने को मिल गईं, जो लक्ष्मीपुर इस्टेट, गिद्धौर राज, महाशय ड्योढ़ी, भड़ोखर इस्टेट, राजबनैली, शंकरपुर इस्टेट और संगीत के भागलपुर घराने से जुड़ी कहानियाँ हैं, जो कहानियाँ अब भी किसी पहाड़ी धुन की तरह अंगप्रदेश के चौराहे और इसकी गलियों में बजती हैं । सोचता हूँ—फिर कब लगेगी इनकी संगी-सभा और कब लिखा जायेगा इनका इतिहास ? जो हवेलियों की शान-शौकत की तरह बिखर गया है ।

(हिन्दुस्तान : ३१ मई २००६)

अंग प्रदेश की होली, होली का अंगप्रदेश

शिशिर और वसन्त का संधिकाल या फिर वसन्त का शैशव और कैशोर्य-काल—यही तो है फगुआ, यानी फागुन माह का उल्लास । संधि जब भी होती है, मिलन जब भी होगा, उमंग उन्मादित होगी ही । ऐसे में लोग थोड़ा आदिम हो जाए, तो आश्चर्य ही क्या ? यह जो शिशिर की ठंठ से मुक्ति पा कर खुली धूप में थोड़ा आदिम हो जाने की चाहत है, यही तो होली है—मर्यादा के बंधनों से मुक्त हो जाने की थोड़ी चाहत ही फागुन का शृंगार है ।

पता नहीं क्यों, फागुन के आते-आते अंग प्रदेश के अंग में ऐसा उन्माद क्यों हिलकोरें लेने लगता है ? महीने भर पहले ही फाग की धूम ऐसे थोड़े ही हो सकती है । क्या पता, यह सब कामदेव का ही खेल हो । चौंकिए मत, बात एकदम सच की है । जब शिव समाधि में लीन थे और उनकी समाधि को भंग करने के खयाल से वामदेव ने फूलों के वाण की बारिश कर दी, तो रोमांचित शिव की तीसरी आँख भी खुल गई । कामदेव जलकर अनंग हो गया, जिसका एक नाम कन्दर्प भी है । शिव के क्रोध से जहाँ कन्दर्प के अंग का दहन हुआ, वह क्षेत्र अंगदेश कहलाया—यही हमारा धर्मग्रंथ कहता है ।

फिर तो धरती पर हाहाकार मच गया । कामदेव की प्रिया रति ही नहीं रोई, प्रकृति का मुख ही मलीन हो उठा । सदाशिव करूणा से पिघल उठे और कामदेव फिर जी उठा—लेकिन देहधारी हो कर नहीं, देहविहीन होकर । इस रूप में अरूप कामदेव सब के दिलों में जाकर समा सकता था, समा गया । कन्दर्प दहन की घटना तो अंगवासियों के मन-प्राण में समायी हुई है ।

क्या पता, इस घटना के बाद जब भी प्रकृति में रोमांस के कारण फूलों की जागृति के दिन आये होंगे, तब अंगवासियों को कामदेव की स्मृति भी आई होगी और उस सम्पूर्ण प्रसंग को जीवन्त कर देने के लिए यहाँ के लोगों ने पुष्प रंग को निचोड़ कर लोगों की देह पर उछाल दिया होगा और उधर प्राणों में समाया कामदेव ने फिर पंचवाणों को साधा होगा, जिससे उन्मादित होकर लोगों ने उन्माद के गीत गाये होंगे और इस तरह शुरू हो गई होगी—होली ।

यह भी हो सकता है कि इसी दिन रति के विलाप से द्रवित होकर शिव ने कन्दर्प को देहविहीन जीने का वरदान दिया हो और इसी खुशी में अंगवासियों ने फूलों के रंग से एक दूसरे को लाल किया हो । फिर जब-जब साल का वह दिन आया, लोगों ने रंग और गुलाल से एक-दूसरे का प्रेमभरा स्वागत किया—प्रकृति

पुरुष की तरफ और भी खिंची और पुरुष प्रकृति की ओर और भी । स्मृति में एक दिन का यही मदनोत्सव कालान्तर में होली का आकार लेकर खड़ा हो गया हो, तो क्या आश्चर्य ।

कहीं दूसरी जगह हो न हो, अंग की भूमि पर होली का उत्सव सिर्फ होलिका-दहन के कारण नहीं हो सकता, यह मदन यानी कामदेव के पुनर्जीवन की सामूहिक खुशी का प्रतीक भी लगता है । हो सकता है, होलिका-दहन वाली कथा बाद में आकर इससे जुड़ गई हो ।

अंग प्रदेश में होली के जितने गीत, जितनी शैलियों में प्रचलित हैं, उसके स्वर को पहचानने की कोशिश कीजिए, उसमें आपको राम-सीता और राधा-कृषण होली खेलते तो मिल जायेंगे, एक नहीं कई-कई गीतों में, लेकिन होलिका वाली बात शायद ही कहीं मिल जाय ।

जो भी हो, जब पहली-पहली बार लोगों ने कामदेव को पुनर्जीवन मिलने की खुशी में रंग और गुलाल एक-दूसरे पर छिड़के होंगे, तब होली का यह रूप नहीं रहा होगा—जो आज अंगप्रदेश में ही है । अजीब बात है, आर्यावर्त के पूर्वी प्रान्तों में जब होली के आने की आहटें मिलती हैं, तब बाहरी देशों से चल कर इसकी अगुवानी में 'वेलेन्टाइन डे' भी पहुँच जाता है—होली के संदेशों का हरकारा बन कर । लेकिन यह वेलेन्टाइन डे भी क्या वैसा ही रह गया है, जेसा आरम्भ में रहा होगा याकि जैसा यह यहाँ दिखने लगा है ? यह डे तो उस संत की स्मृति का प्रतीक-दिवस है, जिसने अमर्यादित वासना की जगह संयमित प्रेम का संदेश दिया था और इसी कारण रोम के इस पवित्र पादरी को मृत्युदंड की सजा मिली । यह बात ई. २६९ की है और तब से लेकर वेलेन्टाइन डे बलिदान की स्मृति में अघोषि-घोषित जो वेलेन्टाइन डे मनाया जाता है, वह कैसा हो गया, बताने की जरूरत नहीं । आज उच्छृंखल यौन-प्रदर्शन वेलेन्टाइन डे का प्रतीक बन गया है, जैसे कि होली ।

लगभग दो दशक से भी पहले की बात है, तब गाँवों में नहीं, शहर की सड़कों पर भी जोगीरा की मस्ती दिख जाती थी, तब उस मस्ती में बहुत सारी बातें थी, देश-दुनिया को कुछ संदेश देने की बातें भी, कुछ पंक्तियाँ तो देखिए :

पहिले सुमरौं सरस्वती दूजे दुरगा माय
जंगल में जोगीरा कंत विराजे आय
फिर बोल-बोल कि सा रा रा रा
गोरे आया इंग्लैण्ड से बोले इंगलिस बोल
गाँधी जी ने थापड़ मारा भागा लुंगी खोल

फिर बोल-बोल कि सा रा रा रा

लेकिन अंग प्रदेश में इस जोगीरा ने भी अपना स्वर बदल लिया है । पहले यह जंगल या गाँव से दूर एकान्त में ही जमता था, अब तो बीच गाँव और शहर में जमता है और वह भी ऐसे बोल के साथ :

कहो जी सा रा रा रा
हिरिया के बेटी किरिया बैठल दुकान पर
गला में शोभे शिकरी, मोती छै कान पर
एक नजर जे चल गेलै, पनम दुकान पर
छिनरा काका मरी गेलै हिरिया के जान पर
फिर बोल-बोल कि सा रा रा रा
हुक्का करे गुड़-गुड़ चिलम के मजा ले
छोटी रानी गिर गेलै उठाय के चूमा ले
फिर बोल-बोल कि सा रा रा रा

लेकिन इसे रोक भी कौन सकता है ? जब प्रकृति में ही उन्माद छा गया हो । कोयल भी बड़ी मुश्किल से ही अपने उन्माद को दबा पा रही है । सुग्गा, मैना, हारिल से लेकर भौरे तक बेहाल-बेहाल । कनेल, कचनार, महुआ सब फूलों से भर जाने के लिए बेचैन-बेचैन । तब अंग प्रदेश ही अपनी उमंग को कैसे वस्त्रों में बांध कर रखे ।

रखना भी नहीं चाहिए । एक दिन मन की ग्रन्थि खुल जाय, तो साल भर मन अपने अनुशासन में चलता है । होली तो प्रेसर कूकर का सेफ्टी वॉल्व है, अतिरिक्त भाप बाहर न निकले तो विस्फोट । होली जब आती है, तब शिशिर शेष होने पर होता है और वसन्त किशोर होने पर । इस समय आम्र मंजरियाँ भी फलने के लिए तैयार रहती हैं, एकदम वयस्क होकर । आयुर्वेद बताता है कि हाथों में आम्रमंजरियों को लेकर घंटों रगड़ा जाय, तो उम्र भर उस शरीर पर कठिन से कठिन विषधर का भी जहर नहीं चढ़ता । क्या इसी कारण होली को चिरंजीवित रखने का यह रास्ता हमारे ऋषियों और मनीषियों ने खोज लिया ।

लेकिन हो क्या रहा है, फागकाल के अंग प्रदेश का वेलेन्टाइन डे हो या जोगीरा—दोनों मूल उद्देश्य से ही भटक गया हैं । धुरखेल तो लोग इसलिए मनाते थे कि राख बदन पर मलने से वसन्त ऋतु का रोग नहीं होता । यह मैं नहीं, वैद्य बताते हैं । लेकिन हो रहा क्या ? नये उगते पेड़ों को काट कर सड़कों पर खड़ा किया जाता है, फिर उसमें आग लगाई जाती है—समाज, परिवार के कल्याण की कामना में । बीस-तीस फीट ऊपर लपटें उठती रहती हैं—हर चौक-चौराहे पर ।

ऊपर झूलते बिजली और टेलीफोन के तार गल कर गिरे, तो गिरे । होली हादसाओं का पर्व बने तो बने । जोगीरा के डर से कोई घर से निकले, न निकले; इन होलियारों को क्या ! वे तो कलाली और काल को मात दे कर आए हैं ।

सड़कें भयभीत हैं, गलियाँ सहमी हुई, फगुआ परेशान-परेशन । ऐसे ही नहीं हैं सब; जहाँ कलादेवी सरस्वती की आराधना ही जोगीरा का रोमांस बन गयी हो, तब होली का क्या, इस जोगीरा का क्या, जो अब गिरा, तब गिरा ।

(हिन्दुस्तान/प्रतिबिंब १ मार्च २००७)

घग्घो रानी, कत्तें पानी ?

''मालिक, अभी तो चैत ही है, बैशाख-जेठ आयेगा, तो न जाने अबकी क्या होगा। अभी से ही बदन में आग लगे जा रही है । पोखर-बांध तो साल दो साल पहले ही सूख गये, कुआँ भता गये या भुताहा हो गये । जो कुआँ बच गए हैं—पाताल चला गया है उसका पानी । मालिक, इस बार तो बूँद-बूँद को तरस जायेगा यह इलाका ।''

रिकशा पर बैठा मैं रिकशेवाले की बातें सुन रहा था, जो रह-रह कर दायां-बायां हाथ इधर-उधर उठा कर बताये जा रहा था, ''ये देखिए मालिक, यह तिसबिघिया बांध है, ताड़ भर पानी भरा रहता था इसमें, अब देखते हैं, कैसा परपट बना है और इधर देखिए, वह है हड़भंगा बांध—हाथी हेलौन पानी रहता था इसमें—रजौन तक सिंचाई होती थी, अब तो यह बाँध खुद प्यासे मर रहा है, नदी में पानी ही नहीं रहा, तो बाँध और पोखर में पानी कहाँ से आयेगा, पहले तो चानन नदी से निकाली गई महाशय नदी, फिर इससे भी पाँच नदी, अब तो सब नदी में बालू-ही-बालू ।''

रिक्शावाले की बातें सुनी, तो अचानक मुझे मौसम-वैज्ञानिकों की चिन्ताएँ याद आ गईं कि जिस तरह पर्यावरण गरम होता जा रहा है, और आबादी बढ़ती जा रही है, कल-कारखानों और मनुष्यों की आरामतलबी के कारण प्रदूषण बढ़ता जा रहा है, उससे एक दिन धरती पर पीने के पानी का घोर संकट और हो जायेगा । ई. २००३ में विश्वजल रिपोर्ट ने भी तो यही कहा था और यूनेस्को के महासचिव कोयचिरो मत्सूरा ने भी, कि यह एक ऐसा बड़ा संकट है जिससे कोई देश अछूता नहीं रह सकेगा । तब हमारे देश का क्या होगा जो जल की गुणवत्ता की दृष्टि से वैसे भी पिछड़े देशों में शामिल है । उत्तम जलवाले देश तो हैं फिनलैंड, कनाडा, न्यूजीलैंड, ब्रिटेन, जापान, नार्वे, रूस, स्वीडेन और कोरिया गणराज्य । भारत तो सूडान, ग्वांडा, मोरक्को जैसे देशों की श्रेणी में है ।

गुणवत्ता की बात तो बाद में आती है, यहाँ तो जल ही दुर्लभ हुआ जा रहा है । नदियों का प्रदेश अंगप्रदेश में भी जल-संकट गहराने लगा है ।

दक्षिणी अंग की जिन तीन नदियों के लिए यह लोकोक्ति प्रसिद्ध थी—चानन, चीर, बड़ुआ, बाकी नदी भड़ुआ—ये चानन, चीर, बड़ुआ भी सावन-भादो में ही कुछ दिनों तक हहाकर बहती हैं, बाकी दिनों के लिए हाहाकार करती रह जाती है, इन्हीं नदियों की क्या—गेरुआ, मयूराक्षी और अजय नदियों की भी तो

वही हालत रहती है । अब इन नदियों के किनारे की बस्तियों में जल के लिए संघर्ष है । यह हुआ, तो आश्चर्य क्या ।

विश्व की जिन महानदियों में पानी है, उसके लिए देश-देश में ही नहीं, देश के प्रान्त-प्रान्त में संघर्ष मच गया है, वह चाहे सिंधु और गंगाजल के लिए पाकिस्तान, भारत, बंग्लादेश के बीच तनाव गहरा रहा हो या कावेरी नदी को लेकर भारत के पड़ोसी राज्यों में ही । यह जल-विवाद ही पंजाब, राजस्थान और हरियाणा को भड़काऊ भाषण के लिए विवश कर रहा है । बात सिर्फ भारत के मित्र राष्ट्रों या प्रान्तों की नहीं है, जल के संकट ने तो धीरे-धीरे सारे विश्व को एक महायुद्ध के कगार पर ला खड़ा किया है । तुर्की से होकर बहने वाली नदी युफ्रेटस पर तुर्की ने कई बांध बनाए हैं और इस तरह इस नदी के जल से जिस सीरिया और इराक का जीवन पहले लहलहाता था, वह आज संकट में है । जब एक ही नदी कई मित्र राष्ट्रों को जीवन देती हो और उसी के बहाव को नियंत्रित करने के लिए जब कोई राष्ट्र उद्धत हो जाय, तब कैसे नहीं आतंक का माहौल जन्मे ! मेरी आँखों के सामने अस्सी से अधिक देशों के बीच से गुजरती नील नदी का प्रवाह उतरने लगता है । जिन-जिन देशों के बीच से यह नदी गुजरती है, वहाँ-वहाँ जीवन का रंग निखरता है, लेकिन जब ई. उन्नीस सौ उनसठ में एक करार के अनुसार सूडान और इजिप्त ने इस नदी के जल का अधिकांश भाग अपने हिस्से में कर लिया, तो बाकी राष्ट्र बेचैन हो गये । इनकी बेचैनी बढ़ती ही जा रही है । मैं भी बेचैन हो उठता हूँ, जाने तो क्या सोच कर ।

तभी रिक्शेवाले ने घूमकर मुझसे पूछा, ''अच्छा मालिक, यह तो बताइए कि यह पानी सूखता क्यों जा रहा है ?'' क्या बताता उससे कि जंगल कट रहे हैं, इसलिए । कल तो गंगा भी सूख जाएगी, जिस तरह से ग्लेशियर रोज-रोज पीछे हटे जा रही है, उससे तो यह गंगा भी बालू की नदी बन कर रह जायेगी, तब करोड़ों लोगों के जीवन का आधार क्या होगा । हिमालय से उतर अंग की भूमि पर ही बहते-बहते; फिर अंग की ही गंगा में मिल जानेवाली सप्त कोशी जिस तरह पर्यावरण-प्रदूषण और वनकटाव के कारण छीजती जा रही है, वह कभी भारी जलविवाद का कारण बन सकती है—भारत और नेपाल के बीच । आश्चर्य नहीं कि कल सप्तकोशी भी सरस्वती की तरह अंगप्रदेश की कोख में समा जाए । उस रिकशेवाले को क्या पता कि लगभग कई सौ टन कचरा हम इस अंग की नदियों, झीलों, सरोवरों में गिरा देते हैं और कचरा से प्रदूषित एक लीटर पानी सात-आठ लीटर पानी को प्रदूषित कर देता है, फिर इस तरह इनके पास जो भी पीने लायक झीलों, सरोवरों का पानी बचा है, वह भी एक दिन शेष हो जायेगा । विश्व जल

विकास रिपोर्ट की तो यही घोषणा है कि जल-प्रदूषण और बढ़ती आबादी के कारण सन २०५० तक १४,००० घन किलोमीटर मृदुजल नष्ट हो जायेगा । उस पर जिस तरह से पानी की बर्बादी लोग कर रहे हैं, उससे तो जलसंकट और भी गहरा होगा । यह भी नहीं होता कि सड़कों पर नल के बहते जल को रोक लें । नगरपालिका तो नगरपालिका ही है । तब विश्वरिपोर्ट की यह भविष्यवाणी गलत कैसे हो सकती है कि इस शताब्दी के मध्य तक सात अरब लोग जल-संकट के शिकार हो जायेंगे । नमीवाले इलाके में तो वर्षा होगी, लेकिन उष्ण देश में और भी गर्मी पड़ेगी, जल का संकट और भी गहराता जायेगा ।

मैं हठात् ही और विचलित हो उठा था । रिकशावाला कहे जा रहा था, ''आदमी को भी क्या हो गया है कि सब पोखर-तालाब भतवा कर उसे बसोवासी जमीन बनवा रहा है, तब पानी कैसे मिलेगा । सुना है मालिक आप के भागलपुर के बड़े-बड़े तालाब भी उसके मालिक ने भतवा दिये हैं, और उस पर आबादी बस गई है—मिरजानहाट से लेकर ईशाकचक तक । क्या यह सच है मालिक ?

मेरे मुँह से 'हाँ' तो निकल गया, लेकिन शायद खुद को ही तसल्ली देने के ख्याल से कहा, ''इससे क्या, अभी भी बेगूसराय की काँवर झील, खड़गपुर झील, बौंसी की पापहरणी, नगाड़ा सरोवर, राजमहल का उधवा नाला तो नहीं सूखे.....

रिकशा द्वार पर लग गया था । गाँव के बच्चे इस भरी दोपहरी में एक घने वृक्ष के नीचे खेल-खेल रहे थे—गा-गा कर :

घग्घो रानी, कत्तें पानी
घग्घो रानी पोखर खनाबै
पोखर खनाबै पथरों के पाट
पथरों के पाट में सोना के घाट
घाट बीच बैठल राजा-महाजन
राजा-महाजन झपकी लेल
घग्घो पोखरा में घुसी गेल
घग्घो रानी कत्तें पानी ?
हेलाव भरी पानी

यह कौन कह सकता है कि ये बचे हुये सरोवर झील भी चम्पा की गर्गरा झील की तरह नहीं सूख जायेंगे ? लोकभाषा की घग्घो रानी यानी रानी गर्गरा ने खुदवाई थी यह झीलनुमा सरोवर । तीर्थंकर महावीर और भगवान बुद्ध को बहुत प्रिय था यह गर्गरा सरोवर, कई बार आकर यहाँ वर्षावास किया था इन्होंने । अब

उस गर्गरा झील में हेलाव भर पानी कहाँ से होगा, झील ही नहीं दिखती । शेष हो गई गर्गरा झील । वहाँ पर तैरता है पोलेथिन के कचरे का द्वीप । रानी कोण देवी की बनवाई पापहरणी भी तो अब वहाँ लोगों के पापों का हरण नहीं कर पा रही है ।

जाते-जाते रिक्शावाले ने कहा, ''लगता है, अब आनेवाले समय में पानी के लिए ही महाभारत होगा मालिक'', तो मेरे मुँह से भी निकल गया, ''तुम्हारी शंका झूठ नहीं लगती । कभी विश्व बैंक के वाइस प्रेसीडेन्ट इस्माईल सीगेल्दिन ने भी अपने भाषण में भविष्यवाणी की थी—अगली सदी में विश्व में तेल के लिए नहीं, पानी के लिए युद्ध लड़े जायेंगे ।

(हिन्दुस्तान : २९ मार्च २००७)

लोकपर्व घाँटो घँटेसर (१४ अप्रैल)

नदिया के तीरे-तीरे हे घँटेसर खेलै छै शिकार

कहिया दिन घुरतै ऊ घाँटो घँटेसर रोॅ ?
सुखलोॅ जाय आसोॅ में कमलोॅ फूल पोखरी में
बदला अठोंगर के बेंगे छै ओखरी में
आँखी सें लोर गिरै बाबा बटेसर रोॅ
कहिया दिन घुरतै ऊ घाँटो घँटेसर रोॅ ?

शायद अब घाँटो-घँटेसर के वे दिन न लौटे । कहाँ से लौटेंगे, जब आज का आदमी नई सभ्यता की आँधी में अपने परिवार का संबंध ही भूल बैठा है ! टूटते संबंध, यहाँ तक टूटे हैं कि एक ही कोख से जनमे भाई और बहन तक घर में अजनबी हो गये हैं । कारणों के पीछे क्या जाया जाए—कारण तो कई मिल जायेंगे । लेकिन जुड़ने के कारण तो बस एक-दो ही मिलेंगे, उन्हीं दो-एक में है—अंगप्रदेश का लोकपर्व—घाँटो-घँटेसर—यानी भाई-बहन के अटूट और असीम स्नेह का पर्व ।

बहन की हर विपदाओं को हर लेने के लिए होता है, भाई—ग्रीष्म के ताप से बेचैन धरती के ऊपर छाया हुआ विशाल वटवृक्ष होता है—भाई । यह मात्र संयोग नहीं लगता है कि चैत के अंत और वैशाख के प्रारम्भ के साथ ही समाप्त होता है, भाई-बहन के स्नेह का पर्व—यह घाँटो-घँटेसर । मुझे तो लगता है कि वैशाख का यह पर्व एक प्रतीक पर्व है ।

अंगप्रदेश में भाई-बहन के निर्मल संबंधों के कई पर्व हैं—सामा-चकेवा का भी, भैया दूज और करमा-धरमा का भी—इनमें सामा-चकेवा और घाँटो-घँटेसर बहुत कुछ मिलते-जुलते पर्व हैं—फर्क है तो सामा-चकेवा उत्तरी अंग यानी अंगुत्तराप में विशेष रूप से प्रचलित है और घाँटो घँटेसर दक्षिणी अंग में—भागलपुर से लेकर संताल परगना के गोड्डा, देवघर, दुमका के जिलों तक ।

अब तो रक्षाबंधन को भी अंग ने अंगीकार कर लिया है और यह आश्चर्य की बात है कि एक दिन के रक्षाबंधन का जो उत्साह अब अंग में है, वैसा उत्साह कई दिनों के पर्व घाँटो-घँटेसर के लिए ही नहीं मिलता । पूरे एक सप्ताह का पर्व होता है यह । काली मिट्टी के गोल-गोल तेरह चक्र बनाए जाते हैं, जिनका धार्मिक नाम है—पिण्डी । इन्हीं पिण्डियों पर घाँटो-घँटेसर का पूरा परिवार बैठता है—जिनके आकार गढ़ते हैं कुम्हार और वहीं से लड़कियाँ डाली में रख कर

इन्हें लाती हैं । तब विधान के अनुसार घाँटो-परिवार का द्वार पर स्त्रियों के द्वारा परछन भी होता है—यहाँ परछन का धार्मिक नाम 'पण्ढार' है ।

पिण्डियों पर स्थापित होते ही घाँटो-परिवार को चावल के घोल और माँटी के रंगों से रंगाया जाता है, उनकी प्रशंसा और प्रार्थना में गीत गाये जाते हैं। वैसे ये गीत तो उसी दिन से प्रारम्भ हो जाते हैं, जिस दिन पिण्डियों की स्थापना हो जाती है—छः दिनों तक, निष्ठा और नियम से पाँच गीत ।

अब भी आँखों में घूम जाता है—अपने गाँव का वह घर । घर की बड़ी कोठरी में बीत्ते भर से लेकर अंगुली भर तक की मूर्त्तियाँ—घाँटो-घँटेसर का परिवार । उनकी उपासना में गीत गाती माँ-चाची की विभोर आँखें । क्या कामना करती थीं माँ और चाची । शायद कहीं यह तो नहीं कि जिस तरह से आप का यह संयुक्त परिवार टूटे नहीं टूट पाता है, वैसा ही हमारा घर भी रहे ।

लेकिन ऐसा कहाँ हो पाया । संयुक्त परिवार के टूटते-न-टूटते—गाँव की देह ही टूट गई और सबके बीच टूट गया घाँटो-घँटेसर का लोकपर्व भी । सही तो, जब परिवार के संबंध ही बिखर गये, बहन, भाई के लिए ही भार बन गई—तब घाँटो-घंटेसर के पर्व का अर्थ ही क्या होता ?

लेकिन तब भी यह पर्व आता है—समाज को उसके मानवीय मूल्यों की स्मृति दिलाने, जिन्हें यह वर्षो पहले छोड़ आया है—भोग की अन्धी दौड़ के पीछे हाँफते-हाँफते । चैत के अन्तिम सप्ताह से शुरू होकर वैशाख के प्रारम्भ में समाप्त होनेवाला यह पर्व एक संदेशा है—चैत की उमंग को ग्रीष्म के ताप तक बनाए रखने का संकल्प और विनती भी । वैसे भी, इस पर्व का कितना अधिक महत्व है, हमारे नारी-समाज के लिए, जो नदियाँ आज भी अनेक मानसिक यंत्रणाओं के बीच, पर्वत की उखड़ी चट्टानों-सी टूटती रहती हैं ।

ऐसे में छः दिनों के नृत्य-गीत का लोकरंग, जीवन में छः महीना का उल्लास भर जाता है । भाई-बहन का पर्व यह भले ही हो, लेकिन कौन-सा पारिवारिक संबंध इससे छूट जाता है । छः दिनों के लोकगीतों में साली-बहनोई का विनोद भी यहाँ मुँह खोलता है । घाँटो खरीदने डाली लिए बहन गई, तो डाली चोरी हो गई और जब चोर पकड़ा जाता है, तो बहन कहती है :

छोड़ी देहौ, छोड़ी दहौ भइया
बहनोइयाँ छेलै हो चोर

बहनोई से अलग, पत्नी-पति का विनोद-व्यंग्य वाला प्रेम भी इन गीतों में खूब झूम कर उठता है :

टीका गिरै झलक से हे बालम,

ऐवा कौनी महीनमा
तोरों सूरत सें गिरै नगीना हे बालम
ऐवा कौनी महीनमा ।

इन गीतों में दिल की बतिया ही नहीं बोलती :

नदी किनारा में चमका चमकै
एक्के बिरिछिया ना
हाय राम एके बिरिछिया ना
हाय राम सेजिया पे बोलै हमरों बलमुआ
दिन के बतिया ना

यहाँ वे गीत भी शामिल होते हैं, जो ग्रीष्म ऋतु के मिजाज को बोलते हैं :

चोलिया करै कसमस
छतिया लागै गरमी
जरा हट के सूतों हे बालम
खूबे लागै गरमी

घाँटो-घँटेसर के पर्व पर स्त्रियाँ कई-कई झूमर गाती हैं—जिनमें उनके मन का राग और आकांक्षा खूब खुल कर खेलती हैं :

भागलपुर बजरिया की बीचली शहरिया
जरा टीका मोलाय लिहों हे बालम
टीका मोलाय लिहों मंगिया पिन्हाय दिहों
जरा हिरदय जुड़ाय लिहों हे बालम

पत्नी-पति का हृदय जुड़ाए-न-जुड़ाए, भाई-बहन का हृदय तो जुड़ा ही जाता है । इस पर्व में घाँटो-घँटेसर के जो गीत गाये जाते हैं, उन गीतों में भाई के लिए बहन का मन जितना आकाश-सा विस्तृत दिखता है :

कोठी नहीं अँरें-चँरें हे
भड़ेरी नहीं है दाल
कैसे कें राखबै माय गे
घँटेसर भैया के मान गे

तो वैसा ही बहन के लिए भाई का भी मन है :

पानी लै कें दौड़लै घँटेसर भैया होरे
बहिन मोरी आबै छै पियासली होरे

कौन है यह घँटेसर भैया ? घँटेसर भैया के परिवार के ये लोग कौन-कौन

हैं ? बीच में तो घँटेसर है, और एक है छौटा भाई घाँटो । इन्हीं में एक धनका भी है :

कहाँ बिठैबै धनका के मुण्डी
धनका रे तोहें धान दिलैहैं

कहते हैं—पाँच मूर्तियाँ घँटेसर के पाँच भाई हैं । क्या हैं इनके नाम, अब नहीं मालूम । हाँ, इन मूर्त्तियों के साथ-साथ पिण्डियों पर रखे जाते हैं—कोतवाल, डलिया, सुआ और कीया भी । डलिया तो मालिनी का प्रतीक है—लेकिन इस धनका से धान क्यों मांगती हैं, स्त्रियाँ ? फसल से क्या संबंध है इसका ? क्यों मूर्त्ति-स्थापन के साथ ही इन्हें दूध से ही नहलाया जाता है ? घाँटो-घँटेसर का परिवार जैसे रहस्यकथा बन कर रह गया है ।

लेकिन, मन है कि बार-बार यह जानना चाहता है—कहीं नदी के घाटों से तो इनका संबंध नहीं ? आश्चर्य नहीं, क्योंकि अंगप्रदेश के सभी लोकदेवता किसी-न-किसी जाति के ही लोकदेव हैं । लोरिक, विसुरौत हैं तो यादवों के, बाला-बिहुला हैं तो वैश्यों के, हरिया डोम हैं तो दलितों के, मांगो देवी—मल्लाहों की, गरीबन बाबा धोबी के, मुसहर जाति के दीना-भद्दरी, नटुआ दयाल गोड़ी जाति के, सलहेश भगत हैं तो दुसाधों के । हाँ, घाँटो-घँटेसर के परिवार में जो कोतवाल है, वह भी तो दुसाध ही है ।

घाँटो-घँटेसर यानी अंगप्रदेश के संश्लिष्ट समाज का प्रतीक पर्व । कौन बताएगा—इस पर्व के पीछे की लोककथा ? कथा कहनेवाली नानी-दादी तो गुजर गईं ।

गुजर तो जायेगी इसके पीछे की लोककथा के साथ-साथ लोककला की एक बहुत बड़ी संस्कृति । अब आधे से अधिक अंग की ललनाएँ आप को नहीं बता पायेंगी कि इस पर्व में कितनी पिण्डियाँ रखी जाती हैं और कितनी मूर्त्तियाँ किस-किस की इन पर बिठाई जाती हैं । सात दिनों तक इन लोकदेवताओं को क्या-क्या खाने में दिया जाता है, जो घर भर का प्रसाद बन जाता है ।

नहीं बता पायेंगी कि सात दिनों में पर्व के गीतों के साथ-साथ कौन-कौन-सी लोकनाटिकाएँ प्रस्तुत होती हैं ।

हाँ, किसी को भी जान कर आश्चर्य ही होगा कि वैशाख के इस पर्व पर एक नहीं, दर्जन भर लोकनाटक गाँव भर की स्त्रियाँ मिल-जुल कर खेलती हैं—इन नाट्य लीलाओं में प्रमुख होती हैं—दही बेचने का प्रहसन, साग बुनने का प्रहसन, चीना बुनने का प्रहसन, साग बेचने का प्रहसन, चूड़ी बेचने का प्रहसन, जांता कुटाने का प्रहसन, बिच्छू-विष उतारने का प्रहसन, मेंहदी रचाने का प्रहसन और

न जाने किस-किस का प्रहसन ।

चिंता सिर्फ इसी की नहीं है कि घाँटो-घँटेसर के पर्व की विलुप्ति से अंगप्रदेश की आदिम मूर्त्तिकला पर संकट आ पड़ा है, बल्कि इस बात की भी कि इस विलुप्ति का अर्थ है, अंग की विविध और विस्तृत लोकनाट्य की विरासत से विरासतहीन हो जाना । तब फिर कभी इस प्रदेश के किसी घर-आंगन में अभिनय करती किसी स्त्री का यह स्वर नहीं सुनाई पड़ेगा :

घुठिया सें ठेनमां, बिखिया चढ़ल गे दाय
कोयॅ नै बिखिया, उतारी दै छै दाय
ठेहुना के बिखिया, कमर में चढ़ल गे दाय
कोये नै बिखिया उतार दै छै दाय ।

(हिन्दुस्तान : १२ अप्रैल २००७)

हाँ, परशुराम और दुर्वासा, दोनों अंगप्रदेश के ऋषि थे

इतिहासकार हरिशंकर श्रीवास्तव 'शलभ' ने ऋषि ऋष्यश्रृंग के जीवन पर प्रकाश डालते हुए अपनी कृति 'मंत्रद्रष्टा ऋष्यश्रृंग' में पुराणकारों के उन व्यवहारों को उत्तर वैदिक काल का षडयंत्र कहा है, जिसके कारण पुत्रेष्ठि यज्ञ में यज्ञपुरोधा ऋष्यश्रृंग का नामोल्लेख तक 'हरिवंश पुराण' में नही हुआ । यहाँ पुत्रेष्ठि यज्ञ के सैकड़ों मंत्रों का तो उल्लेख है, लेकिन मंत्र के ज्ञाता के लिए सिर्फ 'ऋषि उचाव' कह कर पुराणकार चुप हो गया है । अंगप्रदेश की दिव्य संस्कृतियों की उपेक्षा उत्तर वैदिक काल में ही नहीं हुई, इसकी उपेक्षा तो वैदिक काल से प्रारम्भ हो गई थी । यहाँ यह बता देना जरूरी होगा कि कुछ विद्वान के अनुसार पुत्रेष्ठियज्ञ के प्रथम पुरोधा ज्ञाता ऋष्यश्रृंग का जन्म अंगप्रदेश के उत्तरी भाग में हुआ था, जो महाभारतकाल में चम्पकारण्य और बुद्धकाल में अंगुत्तराप कहा जाता रहा । हालांकि स्थान संबंधी जानकारी सही नहीं है । जो हो ।

अंगप्रदेश के इसी उत्तरी हिस्से में बहने वाली नदी कोशी के किनारे बैठकर महर्षि विश्वमित्र ने सहस्त्रों वर्ष तक कठिन तपस्या की थी, जिससे ब्रह्माड हिल उठा था । कोशी विश्वमित्र की बहन है और कोशी अंगप्रदेश की पौराणिक पवित्र नदियों में प्रमुख, इससे विश्वमित्र का अंगप्रदेश से संबंध के बारे में सहज ही जाना जा सकता है ।

कोशी नदी के संबंध में जो भागवत कथा उपलब्ध है, उसका उल्लेख भी यहाँ अनिवार्य है, क्योंकि यह कथा सीधे परशुराम की जीवनकथा से भी जुड़ी हुई है । महर्षि जह्नु, जिन्होंने गंगा का पान कर लिया था और कि जो अंग के ऋषि थे, उनकी पाँचवी पीढ़ी में कुशम्बु के बेटे महाराज गाधि हुये थे । महाराज गाधि की ही पुत्री थी सत्यवती । जब महर्षि ऋचीक ने गाधि से उनकी पुत्री की मांग की, तो गाधि ने शादी के लिए एक शर्त रख दी, एक हजार सफेद घोड़े देने की, जिसके एक-एक कान काले हों । ऋचीक जी वरुण देवता के पास गये और उनसे वैसे ही एक हजार घोड़े प्राप्त कर महर्षि गाधि को भेंट किया। विवश होकर गाधि को अपनी पुत्री सत्यवती उन्हें देना पड़ा । एक बार की बात है, सत्यवती और उसकी माँ ने एक ही समय पर अलग-अलग पुत्रों की आकांक्षा व्यक्त की । ऋचीक ने दोनों के लिए ही खीर तैयार की, लेकिन शंका के कारण माँ ने बेटी वाली खीर ही बेटी से मांग कर खा ली । अब जब ऋचीक को यह मालूम हुआ,

तो वह दुखित हुए, क्योंकि माँ के लिए जो खीर बनी थी, वह कुछ भिन्न थी, ऋषि ने बताया कि अब सत्यवती ऐसे पुत्र को जन्म देगी, जो क्रूर प्रवृति का होगा । सत्यवती टूटने लगी, तो ऋषि ने कहा कि तुम्हारा जो पौत्र होगा वह अगिया वैताल होगा । इसी वरदान के कारण सत्यवती की कोख से जमदाग्नि हुये जो महर्षि परशुराम के पिता थे । जमदाग्नि के जन्म के साथ ही सत्यवती कोशी बन कर बह गई ।

अगर हम सत्यवती के कोशी नदी बन कर बहने के मिथ का रूपक अर्थ ग्रहण करें, तो यह बात जाहिर होने लगेगी कि महर्षि ऋचिक, महर्षि जमदाग्नि, महर्षि परशुराम का जन्मस्थान अंग जनपद ही था, सिर्फ परशुराम के पुर्वज जह्नु ही अंग जनपद के नहीं थे ।

और सिर्फ यही नहीं कि परशुराम की जन्मभूमि यह अंगप्रदेश है, बल्कि उग्र स्वभाव के लिए ख्यात महर्षि दुर्वासा की जन्मभूमि भी यही अंगप्रदेश है । यह इसलिए नहीं कि दुर्वासा के अंगवासी होने ही घोषणा 'जर्नल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल' का पृष्ठ दस करता है, बल्कि प्राचीन कथाओं पर गंभीरता से विचार करें, तो इतिहास के बहुत सारे द्वार खुलते जायेंगे, जिस पर कुछ इतिहासकारों ने झाड़-झंखाड़ उगा रखा हैं ।

पुराणकथा के अनुसार इन्द्र अंगिरस ऋषि के परम प्रिय मित्र थे और जब दुर्वासा की मूल्यवान माला का मर्दन इन्द्र के गजराज ने किया, तब दुर्वासा ने शाप से इन्द्र को सत्ताच्युत कर दिया था । इस विषम स्थिति में इन्द्र ने सत्ता की पुनरप्राप्ति के लिए बलि से याचना की, तो बलि ने देवलोक पर चढ़ाई कर उसे अपने अधीन कर लिया । पुराणप्रसिद्ध कथा है ही कि बलि अंगदेश के चक्रवर्ती सम्राट थे जिनका ही पुत्र था, अंग और जिसके नाम पर अंगप्रदेश है।

फिलहाल इन्द्र या देवताओं से अलग, यहाँ बात है ऋषियों की । तो, इन्द्र के अभिन्न मित्र अंगिरस ऋषि अंगप्रदेश के ही थे । कई इतिहास ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है कि ऋग्वेद के द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, षष्ठ और अष्टम मंडल में जिन ऋषियों के मंत्र प्राप्त होते हैं—वे ऋषि हैं—गुत्समद, गौतम, भारद्वाज और कण्व । गौतम और भारद्वाज अंगिरा वंश के ही माने जाते हैं और कण्व भी अंगिरस ही हैं ।

अंगिरस अंगप्रदेश के उन महान ऋषियों में थे, जिन्होंने जाना था कि अग्नि का निवास काष्ठ में होता है, और इन्होंने ही काष्ठ से अग्नि को प्रज्ज्वलित कर, न केवल यज्ञोत्सव की नीव रखी थी, बल्कि दुनिया के हाथों में प्रकाश का नया सूर्य सौंपा था । अंगिरस ऋषि के संबंध में विस्तृत उल्लेख जर्नल बिहार

रिसर्च सोसाइटी भाग २८ में भी मिलता है ।

और तब, यह अविश्वसनीय भी नहीं लगता, जब महर्षि प्रभात रंजन सरकार अपनी पुस्तक 'सभ्यता का आदिबिन्दु : राढ़' में लिखते हैं कि पतंजलि और महर्षि कपिल भी राढ़ प्रदेश के ही थे । यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि महर्षि आनन्दमूर्त्ति ने 'राढ़' को अंगप्रदेश का दक्षिणी प्रदेश बताया है। इतिहासग्रंथों से भी स्पष्ट होता है कि अंगप्रदेश दक्षिण में हजारीबाग तक विस्तृत था । संभव है महर्षि पतंजलि और कपिल अंग के दक्षिणी राढ़प्रदेश मन्दराचल क्षेत्र के हों ।

आधुनिक युग के ऋषि भूपेन्द्र नाथ सन्थाल मंदार क्षेत्र इसलिए आ गये थे कि इन्होंने अपनी साधना में कई ऋषियों को मंदार पर्वत पर साधनारत देखा था । महर्षि पतंजलि का मंदार क्षेत्र के होने का एक कारण तो यह भी लगता है कि आदिदेव शिव की भूमि भी यही मंदार था । शिवपुराण ही नहीं कहता, 'सभ्यता का आदि बिन्दु : राढ़' में प्रभात रंजन सरकार भी यहीं कहते हैं; भूगोल से भी अनुमान लगाया जा सकता है कि शिव अगर आदिदेव हैं, तो हिमालय से करोड़ों-करोड़ वर्ष पुराना मंदार पर्वत ही शिव की निवास-भूमि हो सकता है । शिव योग के आदि आचार्य थे । और शिवक्षेत्र मंदार के महर्षि पतंजलि ने शिव के योगमार्ग को नई वैज्ञानिक पृष्ठभूमि दी । यह गलत नहीं है कि इतिहास अपने को दुहराता है । काल की इसी चक्रगति के कारण जहाँ कभी विक्रमशिला के सिद्धों का ज्ञान-प्रकाश फैलता था, वहाँ प्रकाश का एनटीपीसी खड़ा है, जिस कर्णगढ़ में कभी कर्ण की सेनाओं का सैन्य-प्रशिक्षण होता था, वहाँ आज भारतीय सैनिकोंका युद्धाभ्यास होता है, और जिस घोघा में घाघ जैसे महान कृषि कवि जन्मे थे, उसी के आसपास आज कृषि महाविद्यालय भी खड़ा है । योगिराज शिव की भूमि पर पतंजलि का आविर्भाव काल की चक्रगति के कारण ही था ।

लेकिन ये सारी बातें अब सिर्फ इतिहास की बातें बन कर रह गई हैं और अंगवासियों के ज्ञान से इतनी दूर कि इन्हें भी अपने इस गौरवपूर्ण इतिहास पर विश्वास न हो, शंकाओं का बवंडर उठ खड़ा हो । लेकिन सूर्य तो सूर्य है, आँखें बन्द कर लेने से सूर्य का प्रकाश ठंडा नहीं पड़ जाता है और न इसकी गति रुक जाती है । अंगवासियों को जिस दिन अपने इतिहास और अपने गौरवपूर्ण अतीत का बोध होगा, उसी दिन सदियों से उपेक्षित ज्ञान का विश्वविख्यात विक्रमशिला विश्वद्यिालय भी उपेक्षाओं के दंश से मुक्त हो जायेगा । जिस भूमि पर कभी ऋषि दीपंकर श्रीज्ञान का ज्ञान ही नहीं आलोकित हुआ था, बल्कि इससे भी अधिक हजारों वर्ष पूर्व कहलगाँव के ऋषि कहोल (कहोड़) के पुत्र ऋषि अष्टावक्र ने

महाराजा जनक के दरबार में पंडितों के ज्ञान के अहंकार को मर्दित किया था ।

यह तो अंगप्रदेश को तय करना है कि यह अपने उग्र ऋषि दुर्वासा और परशुराम के स्वभाव पर चले या अंगिरस, पतंजलि, कपिल, अष्टावक्र और दीपंकर श्रीज्ञान के पथ पर ।

(हिन्दुस्तान : २८ जून २००७)

पावस में कठोर व्रत का प्रण और अंगप्रदेश की राजकुमारी वसुमति

और किसी बात से आहत हो या किसी कारणवश ही, भगवान महावीर ने चतुर्मास तक निराहार-निर्जला ही रहने का कठोर व्रत ले लिया । फिर योग की कठिन साधना भी करते रहेंगे, यात्राएँ भी नहीं रुकेंगी ।

महावीर ने जब यह हठयोग वरण किया, तब वह आषाढ़ का महीना था। आकाश में आद्रा नक्षत्र का नृत्य प्रारम्भ हो गया था । घुमड़ते बादलों का श्याम वितान और बूंदों से वातावरण हिमालय-सा शीतल शांत हो रहा था, लेकिन न भगवान महावीर पूर्ण आनंदस्वरूप लग रहे थे, न उनके शिष्यों के चित्त।

शिष्यों के चित्त तो भगवान से कहीं ज्यादा अशांत थे । वहाँ आशंकाओं और भय का महावेग फूट रहा था । साथ ही अनुनय और आग्रह की प्रार्थनाएँ भी ।

इतने अनुनय और आग्रह को भला भगवान कैसे टाल सकते थे । व्रत तोड़ने का निवेदन तो मान लिया, लेकिन एक शर्त रख दी कि वह व्रत तभी तोड़ेंगे, जब कोई कन्या अपने हाथों से उड़द के दाने भिक्षान्न के रूप में प्रदान करे जिसके पांवों में बेड़ियाँ हों, हाथों में हथकड़ियाँ, और जिस कन्या का सिर मुंडा हो, आँखों के कोरों में आँसू की छलछलाहट, जिसका एक पाँव तो देहरी के बाहर हो और दूसरा पाँव घर की देहरी के भीतर ।

क्या यह संभव है ? शिष्यों के मन की शंकाएँ और भी बढ़ गईं । कहीं यह महानिर्वाण की प्राप्ति का बहाना तो नहीं । आषाढ़ की घटाओं की तरह शिष्यों की आँखें हो गईं ।

तब भगवान के इस कठोर व्रत के पूर्व, अंगप्रदेश की चम्पा पर विनाश की महालीला सब कुछ बिगाड़ चुकी थी । महावीर के समकालीन अवन्तिका के नरेश चन्द्रप्रद्योत की सेनाओं से आक्रान्त हो चम्पा का वैभव छिन्न हो गया था । अंगनरेश दधिवाहन ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ चन्द्रप्रद्योत की सेनाओं का सामना तो किया, लेकिन भाग्य विपरीत हो गया था।

दधिवाहन की हत्या युद्धभूमि में ही हो गई और उसके साथ ही अंगनरेश की सेनाओं में भी भगदड़ मच गई । चन्द्रप्रद्योत की सेनाओं ने खुल कर चम्पा के रत्न भंडारों को लूटा । यही नहीं किया, नरेश की विधवा पत्नी धरणी और पुत्री वसुमति को भी बंदी बना कर एक ऊँटवाह चल पड़ा । लेकिन उपद्रव का ख्याल

कर उस ऊँटवाह ने राह की एक बस्ती में धनावह नाम के एक श्रेष्ठी के हाथों वसुमति को बेच दिया । रानी का क्या हुआ, ज्ञात नहीं, लेकिन वसुमति पुत्रीवत उस श्रेष्ठी के यहाँ पलती रही—यहाँ तक कि वह पूर्णयौवना बन बैठी । उसके अपूर्व सौन्दर्य को देखकर ही श्रेष्ठी ने उसका नाम चन्दनबाला रख दिया था ।

आषाढ़ बीत चुका था । सावन-भादो के घुमड़ते गजाकृति वाले बादल भी बरस कर आकाश छोड़ गये थे । आश्विन के समाप्त होते-न-होते घनावह अपने व्यापार पर निकल गया और एक दिन श्रेष्ठी-पत्नी मूला ने जब एकान्त में वसुमति को देखा, तो शंकाओं से भर गई । कहीं यह श्रेष्ठी के विचलन का कारण न बन जाए—बन ही जायेगी, ऐसा जो रूप है । यह ख्याल आते ही मूला ने वसुमति के केशों को काट डाला, संन्यासी-सा सिर बना दिया । पैर में बेड़ियाँ डाल दीं और हाथों में हथकड़ियाँ । विशिष्ट प्रकार के भोजन की जगह मूला ने भूसा मिला उड़द रख दिया उसके आगे, खाने के लिए और स्वयं मायके चली गई ।

धनावह व्यापार से लौटा, तो विषम स्थिति देख कर विचलित हो उठा। मालूम हुआ, अभी तक उसने एक अन्न भी ग्रहण नहीं किया है—करेगी भी नहीं, जब तक कि कोई साधू उसके इस अन्न को पहले ग्रहण न करे ।

और जैसे संन्यासिनी भेष की वसुमति की आवाज सुन ली हो भगवान महावीर ने । शिष्यों के साथ धनावह के द्वार पर भगवान पहुँचे । कठिन व्रत को तोड़ने के लिए महावीर ने जो शर्तें बांधी थीं—उन्हीं शर्तों का वहाँ साकार रूप उपस्थित था । बेड़ियों-हथकड़ियों से बंधे पैर और हाथ, आँख में छलछलाते आँसू, मुंडे सिर, देहरी के बाहर एक पाँव और एक अन्दर की ओर । वसुमति ने अपनी श्रद्धा और प्रसन्नता निचोड़ कर भगवान महावीर की ओर उड़द के दाने को बढ़ाया, तो भगवान ने अपने अखंड स्नेह और आशीष की मुद्रा में अन्न ग्रहण कर कठेर व्रत का साथ छोड़ दिया ।

चतुर्मास बीत रहा था, लेकिन लगा आकाश में वर्षाकाल की अपनी सम्पूर्ण छवि लेकर पुनः आषाढ़ आ गया हो—ताप और दहकती हवाओं को पीता हुआ । दिशाओं ने भी देखा—वसुमति भगवान के चरणों पर झुकी उनकी प्रथम शिष्या के रूप में राजकुमारी से संन्यासिनी हो चुकी है—जीवन के और संसार के सभी तापों-कष्टों से मुक्ति पा कर ।

आज भी, आकाश में जब आषाढ़ अपने बादलों को समेटे चलता दिखाई पड़ता है, तब ऐसे ही काल में भगवान महावीर का वह कठोर व्रत ही नहीं याद आ जाता है, चम्पा की राजकुमारी वसुमति की सम्पूर्ण व्यथा भी उमड़ आती है—आषाढ़ के ऐसे ही काले बादलों की तरह और तब अनायास ही मन यह

प्रार्थना करता है—उन तमाम दुखिताओं के लिए, अपने ही घर और बाहर, इस्कूलों, अनाथालयों, हॉटलों, बारों में शोषित बालाओं-बच्चियों के लिए, जिनका कहीं कोई संबल नहीं दिखता सरकार से लेकर अन्तराष्ट्रीय कानून-कायदे तक । अलग बात है कि वसुमति के उद्धार के लिए भगवान स्वयं आ गये थे और लंका से जानकी की मुक्ति के लिए स्वयं भगवान ने आषाढ़ मास में समुद्र पर सेतु बंधवा दिया था :

प्रथम मास आषाढ़ हे सखि
साजि चललै जलधार हे
एही प्रीत कारन सेतु बान्हल
सिया उदेश श्रीराम हे ।

(हिन्दुस्तान : १२ जुलाई २००७)

दादुर का दर्द

पावस के आते ही जब मोर तीस से चालीस मिन्टों तक अथक नृत्य कर सकता है, तो कवि की बात ही क्या । उस दिन 'पावस गोष्ठी' में दस कवियों ने पाँच-पाँच कविताएँ चक्र से सुनाईं और सभी कविताओं में मेढ़क की चर्चा किसी-न-किसी रूप में आती ही रही ।

आखिरकार उस दिन की गोष्ठी भी समाप्त हुई और संध्या का समय भी। रात हुई और आँखें लगीं, तो देखा—मेढ़कों का एक जुलूस मेरी ही ओर आ रहा है । मैं घबड़ाया और उठ बैठा । झूठ नहीं था—मेढ़कों का ही जुलूस था । सभी की गर्दनों में तख्तियाँ लटकी थीं, डेढ़-दो सौ तो अपने अगले पंजों से कुछ झंडियाँ भी लहरा रहे थे । जुलूस से कोई एक बोलता, तो बाकी सभी मेढ़क 'टर्र टों' की आवाज में चीख पड़ते । यह आवाज वह नहीं थी, जिसके बारे में तुलसीदास ने लिखा है कि,

दादुर धुनि चहु दिसा सुहाई ।
वेद पढ़हि जनु बटु समुदाई ।

यह आवाज वैसी ही थी, जैसी चुनाव के दिनों में या अपनी माँगों के समर्थन में रैली में जुटाये गये भाड़े के लोगों की होती है । मैं धड़पड़ा कर खड़ा हुआ । अब तक वह जुलूस मेरे एकदम नजदीक आ गया था । मुझे खड़ा देखा, तो जुलूस के कुछ मेढ़क मेरे आंगन में लगे कदम्ब के पेड़ पर चढ़ गये और वहीं से नारे लगाने लगे ।

मेरे लिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी, क्योंकि मैने गनौरी गुरूजी की मार खाकर यह जाना था कि मेढ़क भी पेड़ पर घोंसले बनाते हैं । कहीं ये वही विदेशी कायरों मेंडस, हायला फेखर, और लेप्टोडेक्टाइलिस मेढ़क तो नहीं । तो क्या इन देशी मेढ़कों ने विदेशी बेंगों को जुलूस में शामिल कर लिया है ? हो भी सकता है, अब तो अपने भारत में बहुत सारे आन्दोलन विदेशी ताकत पर ही चल रहे हैं ।

अभी कुछ और सोच पाता कि जुलूस के आखरी सिरे, जो बीस-चालीस फीट से कम नहीं होगा, से उड़ते हुए तीन मेढ़क मेरे सामने आ गये । बड़े-बड़े पंजे वाले, लेकिन शरीर से हलके । गौर से देखा; गर्दन की तख्ती पर एक कागज सटा था—'जावा से ।' तो ये भी विदेश से हैं । तभी बड़ी तेजी से चलकर उन तीन मेढ़कों के पास एक ऐसा मेढ़क भी आ गया, जो शीशे सा पारदर्शी था । देख कर

मैं अवाक रह गया । वैसे भी मैं बोल कहाँ पा रहा था ।

मुझे इस तरह घूरते देख उस काँच के मेढ़क ने कहा, ''यह सच हो-न-हो, लेकिन लगता है, भगवान ने मुझे प्रयोगशाला में बकरे की तरह कटने से बचने के लिए ही शीशे का बदन दे दिया है, ताकि मेरी नसें, फेंफड़े, शिराओं के खून, सब बाहर से देखे जा सकें—चीरने-फाड़ने की कोई जरूरत नहीं ।'' वैसे भी अफ्रीका के जंगल से मुझे ढूंढ निकालना आसान नहीं है । तो क्या यह पैसे के लोभ में जुलूस में आ गया है और वह भी अमेरिका-अफ्रीका के जंगल से ? तब पैसे के लिए क्या नहीं हो रहा है । आदमी तो एवरेस्ट पर भी हॉटल बना रहा है, यह अगर समुद्र को तैर कर आया, तो आश्चर्य क्या ?

उन मेढ़कों से मेरे पास आने का कारण मैं अभी पूछता ही कि देखा जुलूस मेरे एकदम करीब आ गया है और उसका नेतृत्व भारी भरकम शरीर वाला एक मेढ़क कर रहा है । उसके शरीर की चमड़ी जितनी खुरदरी थी, उतनी ही घृणा पैदा करनेवाली भी । पूरे बदन पर मस्से के आकार के दाने भरे हुए थे, स्थूल शरीर के कारण लम्बा डग भरना उसके लिए मुश्किल हो रहा था । मैंने मन-ही-मन में सोचा, यह शरीर वर्षों की साधना से ही अर्जित हो सकता है लेकिन डर से बोला कुछ नहीं ।

शरीर पर मस्सेवाले उस भारी भरकम मेढ़क के बगल में कुछ ऐसे भी मेढ़क थे, जिनमें कुछ की पीठ पर छोटे-छोटे छिद्रनुमा गड्ढे थे, जिनमें अंडे दिख रहे थे । तो, मतलब साफ था, जुलूस में स्त्रियाँ भी शरीक हो गई थीं । ठीक ही है, जुलूस को सफल करना हो, तो स्त्रियों को आगे करो । सुरक्षा, आकर्षण, परिवर्तन, प्रगति, सभी दृष्टियों से जुलूस को सफलता मिल जाती है ।

स्वभाविक था, मैं अगर कुछ बोलना भी चाहता, तो नहीं बोल सकता था। अपने एक पुलिस मित्र को जानता हूँ जो जुलूस में शामिल अनियंत्रित महिलाओं को नियंत्रित करने में नौकरी गवा चुका है । सो, मैं उस जुलूस से यहाँ जमने का कारण भी पूछने में डर रहा था ।

यूँ ही पावस-काल में मेढ़कों का टर्र-टर्र-टर्र-टोंय की आवाज शान्ति को भंग किए रहती है, इनके गृहस्थी बसाने के दिन जो हो जाते हैं । मनुष्य तो हैं नहीं कि मलेमास, चतुर्मास को छोड़ कर सब दिन ब्याह करे और परिवार बसाए।

एक तो पावस और उस पर जुलूस । कि तभी बादल की गड़गड़ाहट को मात देने वाली एक आवाज उठी । मैंने तो समझा कि बादल गूंजा, लेकिन आकाश में तो बादल थे नहीं, तो फिर....कि तभी वही घन-गर्जन । तो, जुलूस के आखरी सिरे से कोई मेढ़क गरज रहा था ।

यह तो मालूम था कि ऐसी आवाज तभी होती है, जब मौसम अनुकूल हो, ऊपर से मेघ बरसते हैं और जब पूरी देह की चमड़ी ही साँस लेने का काम करने लगती है, चमड़ी भी रूखी होने की जगह चमकदार चर्बीदार बनने लगती है, तब आवाज भी रोबीली हो जाती है । लेकिन यह आवाज तो कोई और आवाज थी ।

माथा ठनका । अरे यह आवाज तो कनाडावासी 'बुलडॉग' की है । मैंने समझ लिया, आज मैं पूरी तरह से घेर लिया गया हूँ, सुरक्षित निकल पाना एकदम कठिन । लेकिन मेरा दोष क्या है, आखिर ?

तभी मेरे पास कूदता हुआ एक मेढ़क आया । जिसे देखते ही मैंने पहचाना । यह तो मेरे घर के ही पास बने पोखर में रहनेवाला मेढ़क था । मैं इसे खूब पहचानता हूँ । इसी की गतिविधयाँ देख-देख कर मैंने जाना है कि शीत कड़ी होते ही मेढ़क मिट्टी के नीचे चला जाता है, और अत्यधिक गर्मी पड़ते ही गीली मिट्टी, गोबर या लकड़ी के नीचे छुप कर गर्मी से बचता रहता है । भोजन के अभाव में अपनी ही चर्बी को चाट-चाट कर दुबला हो जाता है ।

''घबड़ाओ नहीं, कवि'' मेरे परिचित मेढ़क ने मुझसे कहा था । उसके बोलने के क्रम में ही मैंने पहली बार देखा कि उसकी जिह्वा लम्बी थी, आगे से जुड़ी, पीछे से निरालम्ब और बातें कहने के ही क्रम में उसने एक कीड़े को पकड़ लिया था, उसे जबड़े में कसा नहीं था, सीधे गले के नीचे उतार लिया था ।

मेरे परिचित मेढ़क ने मुझे डरा-सा देखा, तो कहा 'घबड़ाओ मत, कवि। चूँकि कल तुमने ही पावस गोष्ठी का आयोजन किया था, इसीसे ये सब तुम्हारे पास आये हैं, तुम्हें महत्वपूर्ण व्यक्ति समझ कर ही उस लंबे-लंबे बालवाले कवि जयनारायण बेचारा के पास नहीं गये । ये अपनी मांगे तुम्हारे सामने रखना चाहते हैं.....'' अभी मेरा परिचित मेढ़क आगे कुछ और कहता कि तभी पीठ पर अंडे लिए मादा मेढ़क ने गुस्से में आकर कहना शुरू किया, ''तुम कवि लोग, आखिर मेढ़क को टर्र-टोंय, टर्र-टोंय करनेवाला जीव ही क्यों समझते हो ? आखिर यह भी तो समझने की कोशिश करते कि इस टर्र टोंय के पीछे हाहाकार कैसा है ? क्या कभी इस पर भी कविता की, चमचागिरी में कविताएँ लिखने से फुर्सत मिलेगी, तब न लिखोगे मुझ पर कविता और लेख । तुम्हें मालूम भी है कि दुनिया भर के मेढ़क-समाज पर कैसे-कैसे अत्याचार ढाये जा रहे हैं ? छोड़ दो अन्य अत्याचारों को । कौन-सा ऐसा मुलुक नहीं है, जहाँ हमलोगों को डीनर में शामिल नहीं किया जाता । छोड़ दो अन्य मुलुक को, अकेले फ्रांस में ही प्रत्येक वर्ष तीन से चार हजार टन हमलोग निर्यात हो जाते हैं और निर्यात करनेवाले देश हैं इंडोनेशिया,

बेल्जियम, लक्जमवर्ग जैसे देश । इसमें इंडोनेशिया तो सबसे आगे हैं ।''
''लेकिन भारत तो इसमें शामिल नहीं ।'' मैंने बड़ा डरते-डरते कहा ।
''क्या बकते हो कवि'' उस मादा मेढ़क ने टेढ़ी आवाज में कहा, ''उन्नीस सौ सत्तासी से पहले भारत ही मेढ़कों का सबसे बड़ा निर्यातक देश था । विश्वास न हो, तो जाकर पूछ लो फ्रांस से । उन्नीस सौ इक्कासी में साढ़े चार हजार टन मेंढ़कों को भारत ने फ्रांस भेजा था और एक करोड़ डालर कमाया था—तुम क्या जानोगे । कविताई में डूबे रहोगे तो विश्व बाजार की नियति क्या समझोगे । वह तो समझो एक समय वह भी आया कि पूरा कोलकाता ही मेढ़क विहीन हो गया। खेतों में बीमारियाँ फैलने लगीं, कीड़े की भरमार हो गई और जब डी. डी. टी. छिड़काने में एक करोड़ डॉलर की जगह सवा डेढ़ करोड़ डॉलर भारत के खिसक गये, तब होश आया और तब जाकर उन्नीस सौ सत्तासी में भारत में मेढ़कों के निर्यात पर पूर्ण पाबंदी लग गई—समझे कवि ! और हमलोग यहाँ इसलिए ही जुटे हैं कि भारत में मेढक के निर्यात पर लगे प्रतिबंध को विश्व में लागू किया जाय। नहीं तो एक दिन यह विश्व भी वही संकट झेलेगा, जिसे भारत झेल चुका है ।'' यह कहकर वह मादा मेढ़क हठात ही चुप हो गई थी ।

चारो ओर एक अजीब सन्नाटा-सा छा गया था । कि तभी वह फिर शुरू हो गई, ''मैं पूछती हूँ, वह कौन कवि था, जिसने तुम्हारी पावस गोष्ठी में, अन्तरिक्ष यात्रियों की वापसी पर कसीदा पढ़ा था । मैं नहीं कहती कि कवि इस खुशी पर नहीं झूमे । भारत क्या, पूरा विश्व ही झूम रहा है, लेकिन मैं पूछती हूँ कि वर्षों पहले जब अमेरिकी अंतरिक्ष शटल एण्डवेण्ट के यात्रियों ने यह संदेशा भेजा था कि अन्तरिक्ष में परिक्रमा कर रही अन्तरिक्ष प्रयोगशाला में मेढ़कों के गर्भाधान के बाद उसके अंडों से बच्चों का जन्म हुआ है, तो इस कवि ने क्या एक छोटा-सा हायकू भी उस खुशी में लिखा था ? नहीं लिखा था, तुम्हें नहीं मालूम, मुझे मालूम है ।''

मादा मेढ़क के इस बयान पर जुलूस ने गुस्से का इजहार किया था—कुछ इस तरह कि जैसे अपने देश में संसद और विधान सभाओं में होता है, सारी सीमाएँ तोड़कर ।

भय से मेरी आँखें खुल गई थीं, और मैंने उस डरावने स्वप्न से मुक्ति पा ली थी लेकिन हर पावस प्रवेश के साथ मेरे मन में जो भय समा जाता है, उसका क्या होगा ?

(हिन्दुस्तान : १६ जुलाई २००७)
('जनसत्ता' नोएडा, १० अगस्त २००८)

अपने समय से बहुत आगे थी, अंग की बेटी, बिहुला

सुनीता विलियम कई महीनों तक अन्तरिक्ष में रहकर पृथ्वी पर लौट आई, अपने अन्तरिक्ष साथियों के साथ, कभी बिहुला भी अपने मृत पति को लेकर अन्तरिक्ष से आगे पहुँच गई थी—स्वर्ग तक और अपने लक्ष्य में पूरी तरह सफल होकर धरती पर लौटी थी, अपने पति-भैसुरों का पुनर्जीवन प्राप्त कर, पति के साथ।

मिथशास्त्रियों के लिए यह पौराणिक घटना एक धर्मकथा हो सकती है, जो है नहीं । यह अलग बात है कि बिहुला-विषहरी कथा का 'स्वर्ग' पृथ्वी पर कोई दुर्गम स्थान ही रहा हो, लेकिन कथा के पात्र देश-काल को 'नहीं-नहीं' की अविश्वासी रट से झुठलाया नहीं जा सकता । फिलवक्त, यहाँ इससे भी कोई मतलब नहीं है ।

आप इसे लोककथा ही मानकर चलें, लेकिन कल्पना कीजिए—अन्तरिक्ष में प्रवेश कर रही कहाँ एक अतिसुरक्षित यान में जा रही सुनीता और कहाँ आषाढ़-सावन की उफनती गंगा में काठ की मंजूषा में बिहुला । एक के साथ सहयोग के लिए कई पुरुष साथी हैं, दूसरे के साथ उसका ही मृत पति—उसके समक्ष निढाल पड़ा हुआ । लेकिन विपरीत परिस्थितियों के बावजूद बिहुला चूर नहीं है ।

कभी आपने सोचा है कि जिस नवेली दुल्हन का पति विवाह की रात ही सर्पदंश से मृत सिद्ध हो जाय, वह कुछ देर के लिए भले ही संज्ञाशून्य-सी दिखी लेकिन तभी पति के पुनर्जीवन के लिए संकल्पबद्ध हो, पति के शव को लेकर यात्रा पर निकल पड़े, क्या यह कोई सामान्य बात है ? सावित्री ने भी अपने पति का पुनर्जीवन प्राप्त किया था, लेकिन बिहुला की तरह सावित्री को उन कठिनाइयाँ-विपत्तियाँ को नहीं सहना पड़ा था । उसे तो यम के पीछे-पीछे चलते जाने के साहस से और यमराज के वरदान देने में भूल के कारण ही अपने पति का पुनर्जीवन मिल गया था ।

सांसारिक, प्राकृतिक, दैविक विपत्तियों ने बिहुला को कमजोर नहीं, बल्कि सबने मिलकर इसे और भी साहसपूर्ण बना दिया था, सब कुछ सह जाने की क्षमताओं से भर गई थी, सती बिहुला । बहुत आगे की यात्रा की बात नहीं करता हूँ, बिहुला मंजूषा में मृत पति को लिए राजमहल की उस विशाल गंगा तक तो गई

ही होगी, जहाँ कोशी आकर गंगा को समुद्र-सी बना देती है । कथा के अनुसार बिहुला इन्द्रलोक तक पहुँची थी और पुराण कथा के अनुसार राजमहल के इन्द्राणी तीर्थस्थल के पास ही शची ने घोर तपस्या कर के इन्द्र को प्राप्त किया था । इन्द्राणी तीर्थ पर बिहुला की मंजूषा अवश्य ही रुकी होगी, शची और इन्द्र की उपासना के लिए । लेकिन जो कहना है, वह यह कि समुद्र-सी फैली गंगा मे अकेली बिहुला कैसे उस मंजूषा में निर्भय बहती गई होगी, अपने लक्ष्य को किसी भी तरह हासिल कर लेने के संकल्प से अडिग । सोचते ही हिल जाता है, हृदय।

स्त्री विमर्शवादी नारी मुक्ति को लेकर आज कितनी-कितनी बातें करते हैं । अगर हम अंगिका लोकगाथा की नायिका बिहुला के चरित्र पर गंभीरतापूर्वक विचार करें, तो लगेगा कि आज का स्त्रीविमर्श बिहुला के समक्ष कितना बौना है। ई. पू. छठी या सातवीं शदी में बिहुला की जिद के सामने शैव चन्द्रधर सौदागर को भी अपने हठ को छोड़ देना पड़ा था, नहीं तो उसने अपने सातवें पुत्र बाला के मृत शरीर को नदी में फेंक देने का आदेश दे ही दिया था । मंत्री धन्ना भी आदेश-पालन के लिए उद्धत था ही । बिहुला के विरोध और दृढ़ता के सामने दोनों को झुकना पड़ गया । तत्कालीन पुरुष प्रधान समाज में यह कोई साधारण बात थी क्या ? उस समय में, जहाँ किसी दैवी-ताप को भी स्त्री के भाग्य के साथ जोड़ दिया जाता था । तभी तो बेटे की मृत्यु पर सोनिका साहुनी यही कहती हैः

होरे बाबाखौकी भैया रे खौकी बासू केरो धीया गे
होरे बारह बरस केरों बाला लखीन्दर माया
होरे, पाँचो कें मारले रे दैवा वासू केरी धीया रे

दो चार लात भी बिहुला पर जमा देती है, यह कहती सोनिका :

होरे दुई चारी लात गे सोनिका कन्या कें मारल माया

इससे पता चलता है कि बिहुला की शादी बहुत कम में ही हुई थी, जब बाला लखिन्दर ही बारह बरस का था, तो बिहुला उससे भी कम की होगी । और इस उम्र में सास का ताना तो बर्दास्त कर जाती है, लेकिन ससुर के आदेश के विरुद्ध वह उठ खड़ी हो जाती है । बिहुला का यह चरित्र अंग की बहुत-सी विदूषी नारियों से बिल्कुल भिन्न है । अति असामान्य है और इसी अति सामान्यता के कारण ही जब मार्ग में बाला का शव गलने लगता है, जिसे ढोना मुश्किल होता है, तब वह गिरमल हार की तरह मृत पति की हड्डियों को गर्दन में डाल लेती है।

कुछ विद्वान, कुछ ज्यादा ही जानने के अतिरेक में, बिहुला का नैहर उजानी को उज्जैन के भूगोल से साट देते हैं, जबकि यह उजानी भागलपुर की गंगा के पार की उजानी ही है, बिहुला अपने मृत पति को लिए गंगा के जिन

घाटों—सेमापुर, कागासैनी, बोचासैनी, गोदासैनी, जोंकासैनी, जुआरीघाट को पार कर शंखेसर घाट पहुँचती है, उजानी तो इन घाटों से बहुत पहले सेमापुर घाट के आस-पास है । लोकविश्वास भी यही है साक्ष्य भी है। गाथा में इसका उल्लेख मिलता है कि चाँदो सौदागर जब बिहुला को देखने गये, तो तीन कोस के बाद ही उजानी पहुँच गये । यह लोकगाथा की कथा-पद्धति भर नहीं है, यह चम्पा से उजानी की दूरी का भूगोल है । अपने पति और भैसुरों को पुनर्जीवन दिला कर बिहुला उन्हीं घाटों से होकर लौटती है और सेमापुर घाट पर आकर अपनी नाव को रोक देती है, फिर वहीं से डोम के यहाँ पहुँच कर उससे बाँस खरीदना, अपने पति, भैसुरों से सुपती, मौनी आदि बनवाना, और उन्हीं सूप, सुपती, मौनी को लेकर नैहर बेचने जाना, इस बात के सबूत हैं कि उजानी सेमापुर नौगछिया के आस-पास का गाँव है, जहाँ से बिहुला अपनी सास के सत को कायम रखने के लिए डोमिन बन कर गई । जाहिर हो कि इसी उजानी से निकल कर वह चम्पानगर अपनी ससुराल भी जाती है । वह घटना इतना बताने के लिए काफी है कि उजानी और चम्पा तीन कोस के भीतर के दो गाँव हैं—गंगा के उत्तरी, दक्षिणी छोर पर बसे दो गाँव हैं । उजानी को मध्यप्रदेश का उज्जैन बताना भ्रमित बुद्धि के सिवा कुछ भी नहीं ।

लेकिन बात यहाँ बिहुला के मायके की नहीं है और न घाटों का विवरण उपस्थित करना । बात तो यहाँ बिहुला के उस व्यक्तित्व की है, जिसने अपने समय से बहुत आगे का मिजाज बहुत पहले ही पाया था और इसी कारण एक हद तक पर्दा का त्याग कर अपने ससुर से लखेन्द्र के शव को डोम के हाथों सौंपने का विरोध करती है । आज यह बात अति सामान्य लग सकती है, लेकिन ई. पू. छठी-सातवीं शताब्दी के संदर्भ में यही बात कितनी असामान्य थी, जहाँ ससुर, भैंसुर के समक्ष बहुओं का मुँह खोलना तो क्या, सामने आना भी समस्त सामाजिक मर्यादा और नैतिकता का उल्लंघन था । विरोध करने की बात तो एकदम अलग थी ।

बिहुला अपने पति के शव को लेकर मंजूषा में बैठती है और घाट छोड़ने से पहले सास उस से जो-जो कहती है, वह उसे पूरा करती है, यानी पहले वह अपने छवो भैसुरों को जीवन दिलाती है, नाविकों को भी, डूबी नावों को उवारती है और फिर पति को जीवन दिलाती है । कठोर संघर्ष और विपत्ति के काल में वह कुछ भी नहीं भूलती है ।

वह नाव के मस्तूल से गंगा में कूदकर अपने पति और भैसुरों की शंकाओं को दूर करती है कि वह अपवित्र नहीं है, यही कारण है, वह शंकाग्रस्त

भैसुरों सहित पति के अत्याचार को सहन भी कर लेती है और इस तरह अपने विवेक से दिग्भ्रमित पति-भैसुरों को सतपथ पर लाती है । बिहुला के इसी विवेक, सहनशीलता और धैर्य के कारण ही चाँदो की हठधर्मिता खंडित हो जाती है, पुनर्जीवित हुए भैसुरों से बिहुला का सम्भाषण, बिहुला में इक्कीसवीं सदी का खुला रूप है ।

बिहुला अपनी इच्छानुसार चम्पानगर से पहले सेमापुर घाट पर ही विषहरी को पूजा दिलवाती है । अपने ससुर के निवेदन को ठुकरा देती है कि वह पुनः ससुराल आ बसे और वह भी कितनी दृढ़ता के साथ । औरत होने के नाते वह विचलित भी होती है, उसके आँसू भी छलछलाते हैं, लेकिन प्रण की रक्षा के लिए वह कठोर कदम उठाने से भी नहीं हिचकती । यही कारण है कि वह जब अपने पति और भैसुरों के साथ चम्पा के करीब सेमापुर घाट पहुँचती है और अपने ससुर चाँदो से विषहरी को पूजा देने के लिए कहती है, तब चाँदो द्वारा पूजा देने की जगह गुस्से में आकर सातो बेटों को ही गंगा में डुबा देने की बात प, उत्तेजित बिहुला विषहरी से ससुर को दंडित करने की बात कहती है । भयंकर बारिश और ओले पड़ते हैं—ओले की मार से चाँदो तिलमिला उठते हैं ।

बिहुला को कोई भी अविवेकी कार्य इसलिए सहनीय नहीं है कि वह उसके सगे संबंधी द्वारा किया गया है । विशेष कर बिहुला का व्यक्तित्व तो वहाँ और भी अत्याधुनिक हो उठता है, जब वह डोमिन बनी अपनी ससुराल चम्पा का कंचनगढ़ पहुँचती है । वह दिन लखेन्द्र की बरखी का दिन था । बिहुला बरखी में बचे हाँड़ी भर दाल-भात को लिए, जो उसे वहाँ से मिला था, पति और भैसुर के पास आती है, और न केवल पति-भैसुर को वही दाल-भात खिलाती है, स्वयं भी खाती है ।

बिहुला का यह सब कार्य मात्र क्या सास सोनिका सहुआइन के कथन को सत करने के लिए था ? शायद नहीं । जीवन में जितने कटु अनुभवों को उसे झेलना पड़ा था, वहाँ उसके लिए समाज की सभी कुलीन मर्यादाएँ व्यर्थ हो गई थीं। बिहुला जिस परिवार से आती थी, वहाँ भी वह मर्यादाएँ थीं, इसी से यह तथाकथित कुलीनता समय-समय पर उसका पीछा भी करती हैं, लेकिन अंत में सब कुछ समझती हुई वह सारे भ्रमों को तोड़ देती है । इस भ्रम को भी कि यह पृथ्वीलोक (घर-द्वार की बंदिशें) सही व्यक्ति के लायक हैं । यही कारण है कि सास-ससुर के सारे आग्रहों को ठुकरा कर वह पृथ्वी पर बसने से इनकार कर देती है ।

आखिर क्यों नहीं इनकार करती । बिहुला जब अपने पति के शव को

लेकर एक महान संकल्प को लिए गंगा पर डोलती मंजूषावाली नाव पर बैठी थी, तब सास ने अच्छे वचन की जगह यही कहा था, मैं जानती हूँ कि लखेन्द्र के शव को थोड़ी दूर ले जाने के बाद ही तुम उसे गंगा में फेंक दोगी और स्वयं किसी डोम के घर जा बैठोगी । और सौदागर चाँदो की उपेक्षाओं-निष्ठुरता की तो कोई सीमा ही नहीं थी । चाँदो तो घाट तक भी नहीं आये, बिहुला को उसके संकल्प में सफलता का आशीर्वाद देने । यह वह दृश्य नहीं था जब गंगा के मार्ग से धर्म-प्रचार के लिए ताम्रलिपि होते हुए लंका जा रही संघमित्रा ने गंगा के रानी घाट में आकण्ठ डूबे पिता सम्राट अशोक के हाथों से, मंत्रोच्चार के बीच, बोधिवृक्ष ग्रहण किया था और घाट पर खड़े सभी व्याकुल नर-नारियों ने अपने आँसुओं को पोछते हुए 'धर्म की विजय हो' कह कर संघमित्रा को विदा किया था । बिहुला तो सास-ससुर से ही उपेक्षित होकर गंगा पर प्रवाहित मंजूषा पर बह चली थी और संकल्प की सिद्धि के साथ लौटी थी, तो आशंकाओं, उपेक्षाओं का पहाड़ उसके सामने खड़ा था । तब भी अंग की बेटी बिहुला विचलित कहाँ हुई ।

(हिन्दुस्तान : २ अगस्त २००७)

अंगप्रदेश में शिवलिंग-पूजन की पृष्ठभूमि और लोकविश्वास

अब ई. बी. हेवेल जैसे पाश्चात्य विद्वानों की ऐसी मान्यताएँ खारिज हो चुकी हैं कि ईसा से तीन सौ वर्ष पूर्व की कोई भी कला भारत के पास उपलब्ध नहीं है । ऐसी धारणा के विद्वानों के सामने सिंधु-सभ्यता की संस्कृति अब कुतुब मीनार की तरह खड़ी है; जहाँ भाषा और लिपि ही नहीं, भारत के आदि देव शिव की प्रतिमा भी सुरक्षित मिल गई है—सिंहासन पर ध्यान लगाए शिव, मस्तक पर दो सींग, सिंहासन के नीचे दो हिरण और शिव के चारों ओर चार पशु भी बैठे हैं—बाघ, हाथी, भैंसा और गैंडा । मूर्त्ति ही नहीं, शिवलिंग भी मिले हैं ।

लेकिन शिव की इस मूर्त्ति से यह मानना गलत होगा कि शिव-उपासना हड़प्प-संस्कृति की देन है, सच्चाई तो यही है कि हड़प्पा से भी अति प्राचीन सभ्यता है अंग के दक्षिणी हिस्सों में फैली सभ्यता-संस्कृति; जिसे अब इतिहासकारों ने 'मड़प्पा सभ्यता' कहना शुरू किया है । जो हो, आरम्भ में शिव का आकार अत्यधिक सामान्य और कलाविहीन ही रहा होगा, लोकशैली के अनुकूल, जो शिवलिंग का है, इसमें कोई संदेह नहीं ।

प्रश्न है, हड़प्पा में जिस शिव की मूर्त्ति मिली है, उनका जन्मडीह कहाँ है ? लिंग रूप में इनकी पूजा क्यों प्रारम्भ हुई और फिर यही शिव, दोनों ही रूपों के साथ विदेशों तक कैसे जा पहुँचे ? मेरे स्मरण में है कि श्री परिपूर्णानंद वर्मा ने अपने 'प्रतीक शास्त्र' ग्रंथ में इसका उल्लेख किया है । पीटरसन और कटनर जैसे विद्वानों ने यह स्वीकार करते हैं कि मिस्र के देव ओसिरिस और देवी आइसिस भारत के शिव-पार्वती ही हैं । यहीं पर इसका उल्लेख करना भी जरूरी है कि मिस्र में एक देवी की प्रतिमा का रूप वैसा ही है, जो चम्पा नगर के कर्णगढ़ की खुदाई में मिली देवी की मूर्त्ति का है । इतिहासकारों ने इसे चम्पा की कुलदेवी और आदि दुर्गा के रूप में पहचान की है । अनुमान किया जा सकता है कि चम्पा की यह मूर्त्तिकला व्यापार के क्रम में मिस्र तक भी पहुँची, जिस तरह कि शिव के लिंगरूप की उपासना ।

यह तो अधिकांश इतिहासकार स्वीकार करते ही हैं कि शिव की जन्मभूमि भारत है और यहीं से उनकी आराधना का विकास अन्य देशों में हुआ। यह सिर्फ 'सभ्यता का आदि बिन्दु राढ़' के इतिहासकार प्रभात रंजन सरकार का ही नहीं मानना है कि भयंकर प्राकृतिक उपद्रव और कई-कई जलप्रलय के बाद

जब सृष्टि का अंकुरण हुआ, तो उसी क्रम में आदिमानव के आदि देव शंकर भी अपने नृत्य में उन्मत्त राढ़वासियों के समक्ष उत्पन्न हुए । यहाँ यह बताने की जरूरत नहीं कि इतिहास का यह राढ़ प्रदेश अंगप्रदेश के दक्षिणी सीमान्त तक फैला हुआ प्रदेश ही है । यही शिव का जन्मडीह है । अंगप्रदेश अनार्य प्रदेश रहा है । और अनार्य शिवपूजक थे । इतिहासकार आर. डी. बनर्जी ने साफ लिखा है कि शिवपूजा के प्रवर्तक आर्य नहीं, अनार्य थे । भारत में शिव पूजा अनार्य-संस्कृति की देन है । दुमका जिला के सरैया प्रखंड में शुंभेश्वर शिवलिंग असुर राजा शुंभ के द्वारा स्थापित है, यही लोकविश्वास है ।

यह अस्वाभाविक भी नहीं लगता है । शिव को आदिदेव, महादेव कहने की जो लोकप्रथा है, उसके पीछे का कारण इन नामों से ही स्पष्ट है । भूतत्व सर्वेक्षण से भी यह स्पष्ट हो चुका है कि अंगप्रदेश का यह दक्षिणी क्षेत्र अपने जन्म की अतिप्राचीन कथा को कहता है, और अगर आर्यावर्त का यह भूखंड पहली बार जीवनधारण के लायक बना, तो इसमें क्या आश्चर्य कि इसके आदि मानवों ने अपने लिए एक देवता भी चुना, जो शिव या शंकर के नाम से प्रसिद्ध हुये ।

लेकिन मानवीरूप यह शिव लिंगरूप में कैसे ? इसका उत्तर कथा ही नहीं, 'दर्शन' भी देता है । कहते हैं काशी के राजा दिवोदास के किसी कार्य से अप्रसन्न होकर शिव ने वहाँ गुप्त रूप से 'अविमुक्तेश्वर' नाम के शिवलिंग की स्थापना की और काशी छोड़ दी । यह भी कथा है कि मुनियों के शाप से शिव जी द्वारा स्थापित वह लिंगरूप कट-कट कर गिरने लगा । इससे प्रलय की स्थिति उत्पन्न होने लगी, तब ब्रह्मा, विष्णु ने क्रमशः पीठ और योनि बन कर, शिवलिंग को धारण किया, जो रूप आज पूजित है ।

दर्शन इससे भिन्न शिवलिंग के संबंध में यह बताता है कि शिवलिंग मन और बुद्धि का प्रतीक है । लिंग ही मन का प्रतीक है और योनि है—बुद्धि । मन को बुद्धि में नियोजित करना ही लिंगपूजा है । लेकिन मुझे लगता है कि आदिम युग में जब लिंगरूप की पूजा प्रारम्भ हुई, तब इसके पीछे यह आध्यात्मिक चिंता नहीं रही होगी, और न उपरोक्त कथा ही, जिसको बुद्धि मानने को तैयार नहीं है।

लगता तो यही है कि शिव के लिंगरूप की उपासना की प्रेरणा पर्वत के आकार से मिली होगी । हिन्दू धर्मशास्त्र के विद्वान जितेन्द्रनाथ बनर्जी ने पर्वत के रूप में शिव की उपासना का जिक्र भी किया है । शिव योगीराज हैं । अगर ध्यान से देखें तो मंदार पर्वत का आकार ध्यानस्थ बैठे किसी साधक का रूप ही खड़ा करता है—प्राणायाम की मुद्रा में बैठा कोई योगी । एक ऐसा त्रिकोण जिसके दो सिरे सतह के दो छोर से टिके हों । अब अगर शिव के कलाविहीन लिंगरूप

को देखें, तो बहुत कुछ ऐसा ही रूप बनेगा । संभव है, आज शिव का लिंगरूप जिस कलात्मक रूप में मिलता है, वह आरम्भ में गोल वेदी पर रखा शिवलिंग ही रहा हो ।

चूँकि शिव का निवासस्थान पर्वत रहा था, इसीसे पर्वत में समाधिस्थ शिव का रूप देख लेना भक्तों के लिए अस्वाभाविक भी कहाँ था और अगर पर्वत ही शिवलिंग के पूजन के पीछे प्रेरक रूप में रहा हो, तो इसमें कोई संदेह नहीं कि कई महाप्रलयों से बच रहे मंदार पर्वत की छवि से शिव को लिंगरूप में पूजने की प्रथा की नींव पड़ी हो । लगभग सात सौ फीट ऊँचा और साढ़े तीन या चार मील के घेरे में फैला यह मंदार पर्वत का शिवलिंग रूप, प्रकृति की अद्‌भुत कला है । संभव है, इसी कला से प्रभावित होकर शिवोपासक अनार्य ने शिव के लिंगरूप की स्थापना की हो । पदमपुराण का पाताल खण्ड यह बताता है कि मंदार शिवोपासना का केन्द्र था और अन्य धार्मिक ग्रंथ इसे अनार्यों (असुरों) का मुख्य गढ़ । असुरराज मधु और अंधकासुर के वध की कथा इसी मंदार से जुड़ी हुई है । यह तो पुनर्विचार के लिए बाध्य करता ही है कि इस पर्वत के शिवमंदिर (जो आज कल विश्वनाथ-मंदिर से ज्ञात है), देवघर के वैद्यनाथ और बासुकी धाम के नागनाथ को त्रिलिंग देश क्यों कहा गया है ? भले ही लोकविश्वास यही हो कि शिव का निवास-स्थान हिमालय का कैलाश है, लेकिन शिवपुराण और विधेश्वर संहिता जैसे धार्मिक ग्रंथ तो यही कहते हैं कि शिव का निवासस्थान मंदार ही था, जहाँ उन्होंने महागौरी के साथ पाशुपतव्रत की नींव रखी ।

शिव के लिंगरूप की उपासना के पीछे प्रेरक चाहे और कहीं, और रहा हो, लगता है अंगप्रदेश में इसके पीछे का प्रेरक मंदार पर्वत ही रहा होगा ।

बात अंगप्रदेश के त्रिलिंग देश की ही नहीं है । इस महाजनपद में पचासों ऐसे क्षेत्र हैं, जो शिव के लिंगरूप के कारण प्रसिद्ध हैं । मलूटी जो गुप्त काशी के नाम से विख्यात है, यह तो एक ही स्थल पर अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी में वहाँ के राजा वसन्त राय द्वारा एक सौ आठ शिवलिंगवाले मंदिरों की काशी है। अंगप्रदेश में काशी एक नहीं है, कहलगाँव भी कभी काशी ही कहाता था । कहीं मलूटी की गुप्तकाशी का संबंध उस कथा से तो नहीं है, जिसके अनुसार शिव ने गुप्त स्थान में अपने लिंगरूप की स्थापना की थी ?

जो हो, अंगप्रदेश का संबंध शिव से प्रगाढ़ रहा है । क्या कारण है कि विक्रमशील बौद्ध महाविहार का महायान, तंत्रयान, वज्रयान से होते हुए फिर नाथपंथ में विलीन हो जाता है, जो नाथपंथ शैव धर्म का ही एक पंथ है । और एकदम आधुनिक समय में आनन्द मार्ग का जन्म भी अंगप्रदेश की छाती पर ही

होता है, जिसका संबंध भी शैव मार्ग से ही है । प्राचीन भारत के शिवभक्त चाँदो सौदागर की कथा तो लोकप्रसिद्ध है ही ।

विदेशों से अंग के वाणिज्य-व्यापार से अलग, उन नाथपंथियों और लोककथा के विस्तार के साथ अगर शिव और शिवलिंग के पूजने की प्रथा देश के अन्य हिस्सों के साथ, बाहर के देशों में भी गई हो, तो क्या आश्चर्य । यह अलग बात है कि उन क्षेत्रों, उन देशों में जाकर इनके पीछे नई कथाएँ ही नहीं जुड़ीं, बल्कि पूजने के पीछे नई मान्यताएँ भी जुड़ गईं । मिस्र, यूनान में लिंगरूप की उपासना के पीछे निःसंदेह कामवासना होगी, जैसा कि कटनर जैसे कई पाश्चात्य विद्वान स्वीकारते हैं । लेकिन अंगप्रदेश में शिवलिंग की आराधना के पीछे आज भी आध्यात्मिक विश्वास यही है कि सृष्टि (योनि) पर शिव (शिवलिंग) ही एक ऐसे देव हैं जो निराकार (इन्द्रियविहीन) रूप में जगत में विचरण करते हैं, और जिनके समक्ष पूरी मानव जाति ही नहीं, सारे देवता भी नतमस्तक हैं ।

यह विश्वास सिर्फ अंगवासियों का नहीं, पूरे भारतवर्ष के हिन्दुओं का है। यह वह एकेश्वरवाद है, जो वेदान्त का ही स्वर नहीं, विश्व के सभी धर्मों के मूल में है । क्या यह विवेचनीय नहीं कि भिन्न-भिन्न देवताओं के उपासक एक-दूसरे से मतभेद तो रखते हैं, यहाँ तक कि अंगप्रदेश की लोकगाथाओं के लोकदेवता भी भिन्न-भिन्न जातियों के भक्तों से विशेष समादृत हैं, लेकिन शिवलिंग की आराधना के लिए तो अंगप्रदेश की सारी जातियाँ ही बिना लिंग-भेद के एक साथ इकट्ठे चल पड़ती हैं, यह मानते हुए कि शिव ही महादेव हैं, महेश्वर हैं और सभी जीवों में उसी शिव की चेतना बिना कोई भेद किए फूट रही है । इसी आस्था के कारण शिवलिंग की आराधना के लिए, शिवभक्तों का जो कुंभ सावन माह में सागर-सा उपट पड़ता है, वह भारतवर्ष में दुर्लभ-सा ही है ।

(हिन्दुस्तान : ९ अगस्त २००७)

चम्पा की सवासिन थी सम्राट अशोक की माँ

सुभद्रांगी अनंगसेना के साथ मंदार की छाँव में बसे गुलट्ठी ग्राम पहुँचती है, अनंगसेना, जो सुभद्रांगी की सखा ही नहीं, उसके भाई की प्रेमिका भी है और जिससे सुभद्रांगी अनभिज्ञ नहीं । इसी कारण वह अनंगसेना को मन-ही-मन भाभी भी मान चुकी है । गुलहट्ठी के आचार्य गुलेठी झा सुभद्रांगी के शील-सौन्दर्य से अभिभूत हैं । जो शीघ्र ही उसे, उसकी सखा अनंगसेना को लिए पाटलिपुत्र जा पहुँचते हैं—अपने मित्र चाणक्य के पास । पाटलिपुत्र के युवराज सुभद्रांगी के सौन्दर्य से अभिभूत हुए बिना नहीं रह सकते और फिर पुष्पवाटिका में पुष्पप्रदान से यह प्रेम का रंग और भी गाढ़ा हो जाता है । आचार्य चाणक्य और गुलेठी के बीच बातें होती हैं, जिसके परिणाम स्वरूप सुभद्रांगी का विवाह युवराज बिन्दुसार से सम्पन्न होता है । मगध में हर्ष की बाढ़ उमड़ आती है ।

सुभद्रांगी के जीवन पर लिखा गया यह अंगिका लघु उपन्यास का सारांश है । उपन्यास का नाम भी 'सुभद्रांगी' है और इसके कथाकार हैं अंगिका भाषा के महाकवि सुमन सूरो ।

लेकिन उपन्यास की यह कथा इतिहास की नहीं, इसमें इतिहास के सिर्फ तीन ऐतिहासिक पात्रों के नाम हैं, सुभद्रांगी, बिन्दुसार और चाणक्य । सुभद्रांगी चम्पा की थी, यह भी ऐतिहासिक सच है, जैसे कि बिन्दुसार मगध के । बाकी सब कुछ इतिहास के बाहर से जुटाई गई सामग्री है । सच तो यह है सुभद्रांगी के संबंध में इतिहास ही बहुत कम बोलता है ।

सम्राट अशोक के संबंध में इतिहास का जहाँ अक्षर-अक्षर मुखर है, वहीं, अशोक की माँ सुभद्रांगी के संबंध में इतिहास का मौन अनेक अनुमानों और जोड़-तोड़ के इतिहास-सृजन को बल प्रदान करता रहा है । क्या यह शोध का विषय नहीं कि एक सम्राट की माँ के सबंध में इतिहास ऐसा चुप क्यों रह गया? कहीं ऐसा तो नहीं कि बौद्ध धर्म की ओर झुकाव के कारण जिस दुर्भाग्यपूर्ण व्यवहार का शिकार अशोक के साम्राज्य को भुगतना पड़ा, उसी की एक कड़ी है—इतिहास में सम्राट अशोक की माँ की उपेक्षा । जो हो । सुभद्रांगी सम्राट अशोक की माँ थी और थी चम्पा की सवासिन ।

लेकिन यहाँ भी एक भ्रम फिर सामने आ खड़ा होता है । चम्पा में सुभद्रांगी एक नहीं थी, अंग में एक और सुभद्रांगी थी, जो चम्पा की ही सवासिन

थी । जैन मुनि जिन प्रभवसूरि के ग्रन्थ 'विविध तीर्थकल्प' में इस सुभद्रा के संबंध में लिखा गया है कि चम्पा में प्रस्तर से निर्मित चार ऐसे गोपुर द्वार थे, जो जाने कब से बंद थे, लेकिन चम्पा की सती नारी सुभद्रा ने कुएँ से चालनी में पानी भर-भर कर उन द्वारों में से तीन को सींच-सींच कर खोल दिया था । चौथे द्वार के लिए यह चुनौती रखी कि अगर मेरी तरह कोई और सती स्त्री हो, तो जल से सींच कर इसे खोल दे । कोई नहीं खोल पाया और चौदहवीं शती तक वह बंद ही रहा । इतिहासकार हवलदार त्रिपाठी ने इस कथा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि—विक्रम संवत तेरह सौ साठ में लखनौती का सुल्तान शमसुद्दीन ने इस द्वार को तुड़वा कर अपने शंकरपुर किले में लगवा दिया था ।

'विविध तीर्थकल्प' की यह सुभद्रा कौन है ? क्या यह सुभद्रांगी से अलग है ? वैसे सुभद्रांगी से आंगी को अलग कर दें, तो यह सुभद्रा ही रहती है और जिन प्रभावसूरि द्वारा उल्लखित सुभद्रा में आंगी जोड़ दें तो सुभद्रा सुभद्रांगी बन जाती है । आंगी तो पहचान है; अंग देश की सुभद्रा होने की । क्योंकि इतिहास में सुभद्रा एक नहीं है । क्या चम्पा की सुभद्रा की स्थानीय पहचान के लिए ही इसमें आंगी जोड़ दिया गया था ? लेकिन यह भी एक अनुमान ही है । इतिहास में ऐसा उल्लेख कहीं नही मिलता ।

इतिहासकार हवलदार त्रिपाठी ने भी अनुमान का ही सहारा लेते हुए लिखा है कि सम्राट अशोक की माता ब्राह्मण कन्या थी और वह चम्पा की थी, जो संभवतः शोणदण्ड के वंश की होगी । स्मरणीय है कि चम्पा के शोणदण्ड वेदाचरण के कठोर अभ्यासी थे । इनके संबंध में जो उल्लेख मिलता है, वह भी एक-सा नहीं है । कहते हैं—शोणदण्ड महात्मा बुद्ध का सम्मान तो करते थे, पर झुक कर नहीं, हाथ उठा कर । रास्ते में या परिषद में अगर बुद्ध से मुलाकात हो जाती, तो वह चाबुक उठा देते या पगड़ी ऊपर कर लेते, यही उनका प्रणाम होता। लेकिन बुद्ध-जीवन पर लिखे अन्य ग्रन्थों से पता चलता है कि शोणदण्ड बुद्ध के तर्कों से प्रभावित होकर अपने अनेक शिष्यों के साथ बौद्ध हो गये थे । जो हो, सुभद्रांगी को शोणदंड के वंश का बताना इतिहास का उल्लिखित सत्य भले ही नहीं, अनुमान पर आधारित विश्वास करने योग्य निष्कर्ष अवश्य है—क्योंकि शोणदण्ड मगध सम्राट बिम्बिसार द्वारा अधिष्ठित अधिपति थे और ऐसे अधिष्ठित अधिपति के वंश की कन्या सुभद्रांगी का विवाह मगध के राजकुमार बिन्दुसार से होना इतिहासविरुद्ध नहीं, इतिहाससम्मत ही प्रतीतता है ।

जो हो, इतिहास से ढेर सारे सवाल करने की जगह इतना तो पूछा ही जा सकता है कि जिस वर्णव्यवस्था के विरोध में प्राचीन विक्रमशिला विश्वविद्यालय

के सिद्ध कवियों ने कविताएँ लिखीं और जिस वर्णव्यवस्था को ही तोड़ने का इतिहास रचा गया ब्राह्मण कन्या सुभद्रांगी और क्षत्रिय कुमार बिन्दूसार के व्याह से, तब अंगप्रदेश के भूगोल पर सृजित हो रही एक भव्य संस्कृति को अनदेखा क्यों कर गया इतिहास ? अगर ऐसा नहीं हुआ होता, तो शायद वर्तमान समय में वर्णव्यवस्था पर आधारित अंगप्रदेश का वर्तमान समाज कुछ ज्यादा ही संवेदनशील होता, कुछ ज्यादा ही सहिष्णु । जो न हो सका । इतिहास को यह भूलना नहीं चाहिए कि पर्वत से उतरता पानी ही नीचे की सारी जमीन को हरियाली देता है—राजकुल का व्यवहार पूरे प्रदेश का व्यवहार बन जाता है ।

(हिन्दुस्तान : ६ सितम्बर २००७)

कितने ही करो सवाल : उत्तर एक कुणाल

शायद वह २३ अप्रैल २००७ का ही दिन था, दिन ढलने पर था । अचानक ही ख्याल आया कि २७ अप्रैल को अंगिका की पहली फिल्म रिलीज होनेवाली है—यह भी पता चला था कि फिल्म लगेगी तो पहले खगड़िया में ही । ठीक भी है—'खगड़ियावाली भौजी' पहले खगड़िया में न लगे, तो कहाँ लगे । शायद इतिहास खींचकर ले गया वहाँ । अंगिका को आन्दोलन का रूप देनेवाले साहित्यकार गदाधर प्रसाद अम्बष्ठ का जिला भी तो खगड़िया ही रहा, इसी जिले के गाँव बन्नी में जन्म हुआ था अम्बष्ठ जी का, जो अंगिका की साधना में समाधिस्थ हो गये ।

और उस दिन 'खगड़ियावाली भौजी' के प्रीमियर शो के अवसर पर जब फिल्म के लेखक और नायक कुणाल कुन्दन सिंह ने कहा कि ''मैं फिल्म ही बनाऊँगा, और वह भी सिर्फ अंगिका में'' तो मुझे लगा कि कुणाल नहीं, कुणाल की शक्ल में गदाधर प्रसाद अम्बष्ठ का पुनर्जन्म हो गया हो । रास्ते अलग-अलग भले दिखें—एक साहित्य के मार्ग से चले थे, दूसरा फिल्म के रास्ते चल पड़ा है, लेकिन लक्ष्य तो दोनों के एक ही हैं—कभी भारत के विशाल भूखंड में व्याप्त अंगिका को आधुनिक समय में वही पहचान और व्याप्ति देना ।

कुणाल को पहली बार मैंने मारवाड़ी पाठशाला, भागलपुर में लगे राष्ट्रीय पुस्तक मेले में देखा था । मेले में एक दुकान ऐसी भी थी, जो भागलपुर के साहित्यकारों की पुस्तकों की थी । मैं उस समय स्टॉल पर था कि तभी एक युवक पहुँचा, शायद किसी से जानकर ही उस दुकान पर पहुँचा था, मेरे नाम से परिचित। उस समय, उस युवक के साथ दो-तीन और युवक थे, नहीं कह सकता, वे कौन-कौन थे, लेकिन एक को तो जानता ही था, मैं ही क्या, पूरा शहर जानता है—वह है शशिशंकर, हिन्दुस्तान अखबार के छायाकार । आते ही पाँच-छः तस्वीरें शशि ने उस युवक की उतारी थीं, विभिन्न भंगिमाओं से ।

बातों से तुरत ही समझ में आ गया कि यह युवक अंगिका भाषा में फिल्म बनाने के सिलसिले में आया है । अंगिका साहित्यकारों का स्वाभाविक रूप से झुकाव उसकी ओर हो गया था । शायद वे ही उस झुकाव से मुक्त थे, जिनका अंगिका के लिए भी कोई झुकाव न था । तब तक वह युवक यह जान गया था कि उसके सामने में खड़ा व्यक्ति ही अमरेन्द्र है ।

युवक ने स्टॉल से मेरी कई पुस्तकें खरीदीं, जिनमें एक 'जटायु' अंगिका

उपन्यास भी था, मुझे ठीक से स्मरण है । उसने कीमत चुकाने के लिए जेब से रुपये निकाले थे, मैंने रोकना चाहा था, तो यही बोल कर काउन्टर पर उसने पैसे रख दिये थे, ''हम्में एत्तेॅ तेॅ कमैले छियै कि अंगिका के किताब खरीदेॅ सकौं ।'' मैं अभी तक इस पंक्ति को नहीं भूल पाया हूँ । अपनी मातृभाषा के लिए कितनी आत्मीयता और श्रद्धा है उस वाक्य में और यह एक वाक्य ही उसके व्यक्तित्व का भी निचोड़ है—अंगिका संस्कृति और भाषा का भी।

कुणाल बैकुण्ठ के वचन में मृदुलता है, कोमलता है, सीधे हृदय को छू लेने की गहराई—वह अंगिका की ही संस्कृति है । पता नहीं, कुणाल बैकुण्ठ कवि भी है, या नहीं, लेकिन इस आदमी के पास, सम्पत्ति के नाम पर, जो गहरी भावुकता, संवेदना है, वह किसी विराट संवेदना के कवि को भी पीछे छोड़ दे, तो आश्चर्य नहीं । मुझे याद है—इस व्यक्ति से डॉ. बहादुर मिश्र के डेरे पर हुई दूसरी मुलाकात ।

बहुत सारी बातें हुईं थीं और बातों के क्रम में अंगिका माँटी की सोन्ही गंध बिखेरते हुए कुणाल ने जो भी कहा था, उसे शायद अंगिका सदियों नहीं भूल पायेगी । कुणाल की बातों में माँ का प्यार औंटे हुये गाढ़े दूध की मिठास की तरह तो था ही, माँ के प्रति पुत्र का प्रेम भी वैसा ही गाढ़े शहद जैसा; 'अंग' के पकवान ओर फसल की सुगन्ध से भरी हुई कुणााल की सारी बातें उम्र भर पिछुआती रहेंगी। इसी से मैंने कहा है कि कुणाल बैकुण्ठ का व्यक्तित्व सम्पूर्ण अखंडित अंगिका का व्यक्तित्व है, और इसी व्यक्तित्व ने इस आदमी को विवश और संकल्पबद्ध भी किया है 'खगड़ियावाली भौजी' को मुम्बई की मायानगरी वाली गुफा से निकाल लेने को ।

उस दिन २७ अप्रैल को जब फिल्म के प्रीमियर शो के अवसर पर मैंने कुणाल की डबडबाई आँखों को देखा था, ओर फिर मेरी नजरें उसके लम्बे सँवरे बालों में फँसे नारंगी फीते पर पड़ी, तब अचानक ही बहादुर मिश्र के डेरे पर उससे हुई मुलाकात ताजा हो गई थी । कुणाल ने कहा था, ''हम्में जबेॅ घोॅर पहुँचै छियै, तेॅ माय के पीठ पर झुलतें चूल केॅ सँवारी, ओकरा लाल फीता सें बान्ही दै छियै आरो कहे छियै—माय पिट्ठोॅ बनैवै नी, बस समझें, वही खाय वास्तें बम्बई सें चली केॅ यहाँ तांय आवी गेलौं छियौं । तोरोॅ हाथोॅ के बनैलोॅ पिट्ठोॅ आरो बूटोॅ के साग, कहूँ की मिलै छै, माय !''

'खगड़िया वाली भौजी' में बैकुण्ठ ने अपने इसी मन को उतारने की कोशिश की है । पूरी फिल्म देखता, तो बहुत कुछ कह सकता था । मुझे तो कथाकार रंजन और शिवकुमार शिव के साथ ही भागलपुर लौटना था । परिस्थिति

मेरे वश में नहीं थी, मध्यान्तर तक देख पाया, लेकिन कुछ भी भुलाने लायक नहीं। प्रीमियर शो की हदों को तोड़कर दर्शकों की बाढ़ ने सभ्य दर्शकों को जितना भी विचलित किया हो, लेकिन आम दर्शकों की वह भीड़, इस फिल्म की लोकप्रियता की फिंगर प्रिन्ट तो थी ही, जिसने पूर्व की शंकाओं और भय के सारे हिमशैल को ध्वस्त कर दिया था ।

२३ अप्रैल को कुणाल बैकुण्ठ ने मोबाईल पर आधे घण्टे की आखरी बातचीत में कहा था, ''आबेॅ जे कहोॅ भाय । फिल्म तेॅ बनी गेलै, आरो तय-तमन्ना के मोताबिक ई सत्ताइसे अप्रैल केॅ लागतै, आबेॅ जेन्होॅ लाँगड़ोॅ-लूल्होॅ बनलोॅ रहेॅ ।'' बैकुण्ठ की ये बातें सुनकर मैंने उससे कहा था, ''ई नै बोलोॅ भाय, अंगिका के ई फिल्म लाँगड़ोॅ-लूल्होॅ नै, चक्रवर्ती बालक सिद्ध होतै ।''

कलामर्मज्ञों की इन रायों को मैं झूठ क्यों कहूँ कि फिल्म में कथा नहीं, संवाद ढीले हैं, ध्वनि-संयोजन प्रभावी नहीं है, तस्वीरों का रंग-मिश्रण मन को नहीं खींचता, ऐसी फिल्म के निर्माण में ज्यादा से ज्यादा दस लाख लगे होंगे, या बहुत अधिक तो पन्द्रह लाख..... ।

पता नहीं क्यों, कलामर्मज्ञों के ये निष्कर्ष मुझे बांध नहीं पाये । मेरी आँखों में अष्टावक्र की देह से ज्यादा उसका दिमाग नाँच रहा था, और उसी के साथ मेरा मन भी । भागलपुर लौटा, तो कुणाल बैकुण्ठ के लिए डायरी पर कुछ ये पंक्तियाँ लिखकर छोड़ दीं :

मैं कुणाल से पूछता, ये क्या हुआ कमाल ?
अंग-अंग में 'अंग' का, छाया हुआ कुणाल ।
चित्र खींचकर अंग का, होता कौन निहाल ?
तुमने पहचाना नहीं, अपना अंग कुणाल ।
माता जिसकी अंगिका, पिता अंग ऋषिपाल
महमह चम्पा-सा हुआ, उसका पूत कुणाल ।
स्थिर है, खामोश है, अचरज से दिक्काल
राजमहल तक गढ़ गया, खाली हाथ कुणाल ।
बिन फगुआ के चैत के, ऐसा उड़ा गुलाल
रंगा हुआ बैशाख है, टेसू हुआ कुणाल ।
सपनों का यह सूर्य है, तारे, चाँद, मशाल
तुलसी-चौरा का दिया, जगजग जोत—कुणाल ।
अंग-अंगिका नाम पर, जितने करो सवाल
सबका ही आकर मिले, उत्तर एक—कुणाल ।

काल खड़ा है हाथ में, लिए हुए जयमाल
उठा समर में अंग का फिर से कर्ण कुणाल ।

१० सितम्बर ०७ को अंगिका भाषा के लिए जब कुणाल बैकुण्ठ हमलोंगों के साथ शहीद चौक पर धरना पर बैठा था और धरना और आमरण के लिए अंगिका में 'गोड़पड़िया' 'मरखाट' जैसे शब्दों से साहित्यकारों को परिचित करा रहा था, तब घेरे के बाहर कुणाल को देखने के लिए लड़कियों, वयस्कों और नवयुवकों की भीड़ जमने लगी थी । धरना तो खत्म हो गया था, लेकिन अंगिकापुरुष कुणाल के कारण जो सड़क जाम का कार्यक्रम शुरू हो गया था, वह घंटों बाद कब खत्म हुआ, मुझे नहीं मालूम । मैं तो धरना-साथियों के साथ 'चित्रशाला' लौट आया था ।

(हिन्दुस्तान : २७ सितम्बर २००७)

'अ' से आलोचक, 'क' से कथा-कविता, 'ग' से गोष्ठी

'कथा-समय' की पाँचवीं गोष्ठी । दिन शनिवार । संध्या, सात के आसपास । पलंग और कुर्सी पर विराजते समीक्षक । 'माँ' कहानी पर बहसें चल रही हैं । डॉ. अरविन्द, पी. एन. जायसवाल, रंजन कुमार अपनी राय प्रकट कर चुके थे । शिव जी तीसरी आँखें खोले कहानी को कामदेव समझ उस पर आग बरसा रहे हैं—'माँ पर लिखी गई अन्य कहानियों से तुलना करें तो यह कहानी एमदम नीचे चली जायेगी । कहानी में अभाव तो है, लेकिन भाव कहीं नहीं है । कहानीकार को हड़बड़ी बनी रहती है—जल्दी कहानी खत्म करने की । कहानी के प्रति कथाकार सचेत नहीं है, इसमें वे सारे तत्व नहीं हैं, जो कहानी में होते हैं । यह रिश्ते की क्रूरता की कहानी है, संवेदना की एकदम नहीं । यह कहानी एकदम लिजलिजी और कमजोर है ।'

समीक्षक शिव जी के मूड को देखकर संचालक समीक्षक डॉ. प्रेम प्रभाकर भी बीच-बीच की बोतें करते गोष्ठी को समाप्त कर राहत महसूस करते हैं ।

गोष्ठी समाप्त हो गई है । अलग होते-होते शिव जी मुझसे पूछते हैं—'समीक्षा से तकलीफ तो नहीं हुई ?' मैं कहता हूँ—'अरे, तकलीफ काहे की ?' सचमुच ही मुझे कोई तकलीफ नहीं थी, क्योंकि शिव जी ऐसे समीक्षक हैं जो किसी की कहानी को पढ़ें या न पढ़ें, उनकी समीक्षा का साँचा बदलता नहीं, उनकी आलोचना के बँधे-बँधाये वाक्य होते हैं, जैसे—'कथाकार के पास मिट्टी तो है, मूर्ति गढ़ने की कला नहीं ।' और ऐसे ही वाक्य के औजार से हर कहानी की खबर लेते हैं ।

यह गोष्ठी भी विचित्र व्यूह है । जो फंस गया—अभिमन्यू की तरह मारा गया, और नहीं तो किसी को किसी की रचना से मतलग नहीं । जो बोलना है, बोलिए—सिंघाड़ा, चिप्स खाइए और विजय-भाव से घर जाइए । सचमुच में, अभी तक गोष्ठी गोष्ठी ही है—यानी गावों के झुण्ड के बीच बैठे गोपों की हँसी-ठिठोली। गाय गोबर करे, गोबर की भी कोई दुर्गन्ध होती है ? वह तो धूप-दीप है, तभी तो गोबर पर ही देवताओं को बिठाया जाता है । गोष्ठी-गोबर यानी गोबर-गोष्ठी—जहाँ सब बराबर हो—वही तो गोष्ठी है । लेकिन तब शायद ग्वालवालों को क्या मालूम था कि उनकी गोष्ठी को कलियुग में कवि-कथाकार मार ले जायेंगे । लेकिन उन्हें

संतुष्ट होना चाहिए कि गोष्ठी शब्द भले ही अब विद्वानों की मंडली के लिए प्रयुक्त होता है, स्वभाव इसका इसके आदि रूप का ही है ।

मैंने कथाकर रंजन कुमार से सुना है कि कभी 'चित्रशाला' में दिनकर, बनफूल, हंसकुमार तिवारी, रामेश्वर झा 'द्विजेन्द्र', गोपाल सिंह नेपाली, फणीश्वर नाथ रेणु की भी गोष्ठियाँ चला करती थीं । यह अलग बात है कि उन गोष्ठियों का कोई नाम नहीं था । शाम हुई और अलग-अलग समय में अलग-अलग साहित्यकारों की जम गई गोष्ठियाँ । उस जमाने में गर्मी की घमोरियों की तरह गोष्ठियाँ ज्यादा नहीं थीं । नगर में बस एक ही गोष्ठी कभी बेहद चर्चा में रही, वह थी—'द्विजेन्द्र गोष्ठी', जब उस समय के सभी विद्वान समीक्षक और साहित्यकार इसमें भाग लेते थे—डॉ. विष्णु किशोर झा 'बेचन', पं. दामोदर शास्त्री, केदार राम गुप्त आदि-आदि । बातचीत के दौरान ही मुझे शास्त्री जी ने बताया था कि गोष्ठी में आलोचना-मीमांसा नहीं होती । सब-के-सब कवि थे, इसीसे काव्य-पाठ जम कर होता ।

उस द्विजेन्द्र गोष्ठी के बाद तब की नई पीढ़ी ने अपने लिए एक अलग गोष्ठी का सृजन किया, इसका नाम था 'समीक्षा' । हांलांकि यह गोष्ठी एक सेतु थी, जिसमें नये-पुराने सभी साहित्यकार आकर मिलते । काव्यपाठ भी होता और समीक्षाएँ भी । 'समीक्षा' की गोष्ठियों में व्यंग्यकार डॉ. शिवनंदन प्रसाद (कृष्ण अली अलबर्ट), दामोदर शास्त्री, डॉ. बेचन, डॉ. विजेन्द्र नारायण सिंह शामिल होते, तो उस समय के नये साहित्यकार गंगेश गुंजन, राही शंकर, यादवेन्द्र, सुधाकर, देवेन्द्र, शैलेष, श्रीचंद्र, श्रीकेशव, दिवाकर विद्रोही, अनिल किशोर सहाय, महेश सिंह, अंजनी कुमार विशाल, वेदप्रकाश वाजपेयी, विकास पाण्डेय, प्रसून लतांत, कुमार भागलपुरी, केदार राम शर्मा, अनिल शंकर झा, रामावतार राही आदि भी । 'समीक्षा' गोष्ठी में कविताएं पढ़ी जातीं, कभी-कभी एक कथा भी, फिर उन कविताओं या कथा पर समीक्षाएं होतीं । बहुत दिनों तक यह गोष्ठी साहित्यकारों में लोकप्रिय रही । गोष्ठी कभी कहीं बगान में, तो सूराबान के खुले मैदान में, और कभी सुन्दनवन में, तो कभी किसी के घर की छत पर ।

पता नहीं किस तरह 'समीक्षा' का लोप हो गया ओर क्यों? अभाव को पाटने के लिए 'सर्जना' नाम से गोष्ठी बनी । इसमें अधिकांश वे ही नये लोग थे, जो समीक्षा में थे—एक-दो नये चेहरे भी हो गये थे, और के तो नाम स्मरण नहीं, लेकिन ओमप्रकाश मिश्र, पारस कुंज के नाम अवश्य स्मृति में हैं ।

कुछ गोष्ठियों के बाद 'सर्जना' भी बंद हो गई और फिर इस कमी को

भरने के लिए ई. १९९७ के लगभग अंत में समकालीन साहित्य की प्रचारिणी सभा 'कामायनी' की नींव पड़ी । इसमें संस्थापक सदस्य थे—श्रीकेशव, डॉ. मनाज़िर आशिक़ हरगानवी, उमाकांत भारती, महेश सिंह आनंद, सोहन प्रसाद चौबे, आशुतोष प्रसाद, राम शर्मा अनल, विजेता मुद्गलपुरी और डॉ. अमरेन्द्र । कहने के लिए तो यह सभा थी, लेकिन गोष्ठी से यह अधिक नहीं रही, जैसाकि अभी बगुला मंच और हंस कुमार तिवारी स्मृति मंच है । लम्बी अवधि तक 'कामायनी' की गोष्ठियाँ हुईं—राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और साहित्यिक विषयों पर ही नहीं, देश के सभी ज्वलंत विषयों पर । डॉ. राजेन्द्र प्रजियार, डॉ. योगेन्द्र, डॉ. सामबे, अशअर उरैनवी, रमेश कमल, अशोक घोष, विजयेन्द्र, डॉ. नीलम महतो, डॉ. विद्या रानी, आभा पूर्वे, त्रिभुवन प्रसाद सिंह, दिवाकर विद्रोही, डॉ. श्याम लाल आनंद, डॉ. शिवचन्द्र झा जैसे विद्वान इसमें शामिल होते । १९९८ के समाप्त होते-होते यह गोष्ठी भी निष्क्रिय पड़ गई ।

ई. १९९७ में ही 'कविता' की भी नींव पड़ी थी । मुझे स्मरण है, इसकी पहली गोष्ठी विपिन मिश्र के ही डेरे पर हुई थी, जिसमें कुछ ही कवि शामिल हुए थे । बाद में डॉ. चंद्रेश, डॉ. मीरा झा जैसे अन्य कवि भी इससे जुड़े, कुछ बाहर निकल गये, लेकिन 'कविता' चलती रही, आज भी चल रही है । चलने के लिए तो शहर में 'शब्द-यात्रा', 'साहित्य-सफर', 'रू-ब-रू', 'नेपाली गीत गोष्ठी' को पारस कुंज, जगत राम कर्णपुरी, सुधांशु शेखर, मधुलक्ष्मी भी चला रहे हैं, लेकिन इनमें 'कविता' की अपनी विशिष्ट पहचान है । यह अलग बात है कि कविताओं पर समीक्षा यहाँ भी नहीं होती, जो 'समीक्षा' या 'कामायनी' में होती थी । इसके पीछे का कारण शायद समीक्षा के बाद की कड़ुआहट ही रही हो । 'समीक्षा' में जिस तरह से एक आलोचक ने दो भिन्न गोष्ठियों में दो भिन्न रचनाकारों (एक कथाकार और एक कवि) की कठोर शब्दों में ऐसी खबर ली थी कि आज भी वे दोनों रचनाकार दुर्दिन की तरह उन क्षणों को याद करते हैं ।

लेकिन ऐसा नहीं कि रचनाकार समीक्षाएं पसन्द नहीं करते । नहीं करते हैं तो डॉ. अरविन्द कुमार का 'रचना समय' कैसे लोकप्रिय है । आलोचक ही तो होते हैं, जो रचनाकार की खूबियों को जगतव्यापी बनाते हैं । परेशानी तब होती है, जब आलोचक आरोचकी बन जाए । मुझे लगता है, आलोचकों के आतंक से कभी संस्कृत साहित्य-काल भी आतंकित रहा होगा । तभी तो कवियों के साथ-साथ आलोचकों का भी निम्नांकित भेद राजशेखर को करना पड़ा—आरोचकी आलोचक यानी जिन्हें किसी की भी अच्छी-से-अच्छी रचना पसन्द नहीं आती सतृष्णाभ्यवहारी आलोचक, यानी जो भली-बुरी रचनाओं के लिए 'वाह-वाह' ही

करें; मत्सरी आलोचक जो खूबियां देखते हुए भी आँखें मूंद लेते हैं क्योंकि उन्हें दूसरों के गुणों को कहना अच्छा नहीं लगता । इनमें चौथे आलोचक ही सही आलोचक होते हैं, यानी तत्वाभिनिवेशी । तत्वाभिनिवेशी आलोचक रचना के गूढ़ तात्पर्य को ही नहीं, पूरी रचना को ही ठीक से समझाने की कोशिश करते हैं, तत्वाभिनिवेशी आलोचकों की समीक्षाएं ही रचनाओं को मुक्ति देती हैं जिसका अभाव-सा हो गया है । मुझे स्मरण है, कभी प्रो. रविभूषण ने भी एक गोष्ठी का प्रारम्भ किया था । पहली गोष्ठी में अमरेन्द्र की लम्बी कविता 'पहचान' का पाठ और समीक्षा हुई थी । डॉ. राधाकृष्ण सहाय जैसे समीक्षक उस गोष्ठी में शामिल थे । सबने जमकर पक्ष-विपक्ष में कहा था, दिशाएं देनेवाली समीक्षाएं थीं । न मैं वह गोष्ठी भूल पाता हूँ और न उसमें होनेवाली स्वस्थ समीक्षाएं । डॉ. विजेन्द्र नारायण सिंह के संयोजकत्व में 'दृष्टि' गोष्ठी भी समीक्षा की स्वस्थ परम्परा को लेकर चली थी । स्वस्थ समीक्षा से हो तो समीक्षक और रचना, दोनों का व्यक्तित्व झलकता है, अनर्गल समीक्षा से सिर्फ समीक्षक का ।

मुझे स्मरण है ३० जुलाई २००६, को शिव कुमार शिव के उपन्यास 'तुम्हारे हिस्से का चाँद' का लोकार्पण-उत्सव था । कुछ समीक्षकों ने कुछ-कुछ कहा । डॉ. देवेन्द्र सिंह उठे, तो उपन्यास की कमजोरियाँ भी उठीं । आहत हुई कवयित्री अनामिका शिव ने अपनी समीक्षा के निष्कर्ण में कहा, ''पुस्तक-समीक्षा' के दौरान में या तो समीक्षक दोस्ती निभाते हैं या दुश्मनी ।'' मैं सोचता हूँ, आलोचना का यह भयावह मिजाज क्या भावी पीढ़ी के महान साहित्य का सर्जक या पथ-प्रदर्शक हो सकेगा ?

(हिन्दुस्तान : ११ अक्टूबर २००७)

निमिया के डार मैया लगलै हिंडोलबा कि झूमी-झूमी

राजा चित्रसेन की निःसंतान जादूगरनी रानी अपने ही भांजे के रूप पर मुग्ध हो उठी और जब उसने यह बात भांजा बालरूचि से कही, तो वह नट गया। अवहेलित रानी बालरूचि को दंड देने के लिए ही कोपभवनं जा बैठी । राजा के अनुनय-विनय पर बोली कि वह तभी प्रसन्न होगी, जब बालरूचि के रुधिर से अपना वस्त्र धोयगी । रानी की जिद न टूटी तो आखिर में राजा की कूटनीति पर मंत्रियों ने बालरूचि को जंगल में छोड़ दिया और शिकार के सियार का रक्त लाकर रानी के समक्ष रखा । रानी खुश हुई ।

उधर बालरूचि एक डायन बुढ़िया की शरण में तंत्र-विद्या का ज्ञाता बनने लगा । समय गुजरा, चित्रसेन अपनी रानी के साथ उसी जंगल के मार्ग से जा रहे थे कि उनकी पालकी का एक कहार मर गया । तभी बालरूचि वहाँ पहुँचा। पालकी में कंधा लगाया और पालकी चल पड़ी । चित्रसेन को चलते-चलते कुछ बोलने की आदत थी । एक पंक्ति पूरी न हो रही थी, तो बालरूचि ने पूरी की । चित्रसेन को समझने में देर न लगी कि नया कहार उसी का भांजा बालरूचि है, जिसे वह राजगद्दी देना चाहता था ।

उसे घर ले जाने के लिए राजा-रानी पालकी से उतर पड़े कि तभी वह डायन बुढ़िया आई और राजा पर तंत्र-बाण की वर्षा शुरू कर दी । जादूगरनी रानी कैसे चुकती । बुढ़िया की हार हुई । चित्रसेन रानी और भांजा के साथ घर लौटे। बाद में बुढ़िया डायन के प्रभाव से भांजे बालरूचि को बचाने के लिए रानी हर साल शरत ऋतु में नौ दिनों की तंत्र-साधना करने लगी । राजा ने भी सभी प्रजाओं को ऐसा करने का आदेश दिया और यही व्रत शारदीय नवरात्र के रूप में प्रचलित हो गई ।

यह कथा उत्तर अंगप्रदेश के लोकनृत्य झिझिया की कथा है । इससे समझा जा सकता है कि चित्रसेन उत्तर अंगजपद के राजा रहे होंगे, इसीसे नवरात्र का यह झिझिया नृत्य पूर्णिया, कटिहार, सहरसा, सुपौल में अधिक लोकप्रिय है । कुँआरी लड़कियाँ छोटे-छोटे छिद्रवाले मिट्टी के घड़े में गुँथे आटे की पिंडी पर जलते दीपक को रखती हैं और नृत्य करती मध्य रात्रि में एकांत स्थान पहुँचती हैं । बौद्धविहार विक्रमशिला के प्राणरस से सिंचित यह झिझिया पर्व उत्तर अंगप्रदेश की सीमा से बाहर नेपाल तक फैला हुआ है, जिसके गीत नवरात्र के

प्रवेश के साथ रात्रि के सन्नाटे को तोड़ते गूंजते हैं :

कारिख चुन सें टिकबा लगैबौ
अन्हारी राती झिझिया
दियरा के टेम भुक-भुक बरै
अन्हारी राती झिझिया ।

अंगप्रदेश में नवरात्र और नवरात्र में तंत्र-साधना के पीछे की कथा—संभव है, यही हो, लंकिन शारदीय नवरात्र में जिस भगवती की आराधना की जाती है, वह अंगप्रदेश में अति प्राचीन रही है । इतनी प्राचीन कि तब भगवती नौ या दस भुजाओंवाली नहीं दो हाथोंवाली मानवी रूप में होती थी । चम्पा के कर्णगढ़ की खुदाई में जो दो भुजावाली देवी की मूर्ति मिली है, उसके संबंध में पुरातत्ववेत्ताओं का कहना है कि यह दुर्गा का अत्यन्त प्राचीनतम आदि रूप है, जिसकी पीठ पर दसों अस्त्र सजे है। । ऐसी मूर्ति मिस्र की प्राचीन सभ्यता में मिली है, जिसके संबंध में यह अनुमान लगाया गया है कि मिस्र से अंग के वाणिज्य संबध के क्रम में ये मूर्तियाँ वहाँ गई होंगी । इससे इतना तो स्पष्ट है ही कि इस महाजनपद में आदि दुर्गा की आराधना कितनी प्राचीनतम है ।

दो भुजावाली भगवती की भुजाएं किस तरह बढ़ती गईं, इस संबंध में धार्मिक कथाएं चाहे जितनी हों, लेकिन बचपन से अपने पुरखों से सुनी ये बातें आज भी सबसे अधिक प्रभावित करती हैं कि आरम्भ में भगवती की पूजा इसके निर्गुण रूप में ही चैत से आश्विन माह तक होती होगी । बाद में लम्बी पूजा संभव न होने के कारण सिर्फ दो ही महीने चैत और आश्विन में मनाने तक सीमित हो गई ।

चैत से आश्विन तक, यही तो ग्रीष्म का समय है—इसकी जागृति और शमन का काल । यह काल मनुष्य के तन और मन पर भारी उत्पात मचानेवाला होता है । राहु-केतु सहित नौ ग्रह के मंडल में सूर्य प्रमुख है और शरत ऋतु में नवरात्र नवो ग्रहों को शांत करने की आध्यात्मिक, तांत्रिक, यौगिक क्रिया है । ग्रहों में भारी उथल-पुथल का काल समझा जाता है यह समय । जो हो नवरात्र नवग्रहों की ओर ही संकेत है और चूंकि रात्रि के समय ग्रहों की छवि स्पष्ट हो जाती है, इसीसे रात में ही ग्रहों की शांति के लिए अनुष्ठान होते होंगे, जो बाद में शारदीय पूजा नवरात्रा के रूप में प्रचलित हुआ । इस संबंध में एक और बात है, चूँकि सूर्य-दर्शन रात्रि के समय नहीं होता, इसीसे कोई-कोई सूर्य को ग्रह नहीं मानते, इसी कारण उनका बल अष्टमी पर अधिक होता है, जो अष्टमी को प्रधानता देते हैं, वे भगवती की प्रतिमा में अष्ट भुजाओं का ही योग करते हैं । इस काल में

उद्वेलित ग्रहों के कारण शरीर में जो ताप होता है, उसकी शांति का प्रतीक है—मिट्टी के कलश में शीतल जल ।

न जाने क्यों, मैं जब-जब भी महिषासुर की छाती में भगवती के भाले को गड़ा देखता हूँ, तब-तब मुझे उस असुर में ग्रीष्म का प्रचण्ड ताप और देवी की मुस्कान में शरत-शिशिर की शीतलता प्रकट मिलती है, ऐसी शीतलता, जो मनुष्य के अंग-प्रत्यंग में बसकर शांति दे रही है । ऐसे में किसका मन भावविभोर हो नहीं गा उठेगा :

निमिया के डार मैया लागल हिंडोलवा
कि झूली-झूली
मैया गावै छै गीत कि झूली-झूली
पानी पीयों, पाठ बैठों
मैया भगवती मैया मन सें
मैया दीहों आशीष हे मन सें ।

(हिन्दुस्तान : १८ अक्टूबर २००७)

बयालीस का बब्बर : शहीद सम्राट महेन्द्र गोप

ठीक ही किसी कवि ने लिखा है :

'अंग' का सूर्य
आलोकित भारत
महेन्द्र गोप ।

सचमुच में, महेन्द्र गोप परशुरामी दल के घोषित सम्राट थे, जिसकी अद्‌भुत वीरता पर दल मंदार पर्वत की तरह गर्वोन्नत था । उसपर परशुरामी दल के संगठन का ही भार था, जिसका कार्य-क्षेत्र वर्तमान बांका जिला से लेकर देवघर जिला तक व्याप्त था । वैसे गंगा पार से लेकर छोटानागपुर अंचल तक इस क्रान्तिकारी संगठन का फैलाव था । जहाँ जंगल-ही-जंगल और पहाड़-ही-पहाड़ हुआ करते थे और महेन्द्र गोप इन्हीं जंगलों से होते हुए इतनी बड़ी सीमा में अपने क्रांतिकारी कार्यों को अंजाम दिया करते थे । वे तब तक इतने लोकप्रिय हो चुके थे कि लोग उन्हें सम्राट महेन्द्र गोप ही कहा करते ।

सम्राट महेन्द्र गोप का जन्म वर्तमान बांका जिले के रामपुर ग्राम में हुआ था । पिता राम सहाय की सन्तान महेन्द्र को बचपन से ही कुश्ती-पहलवानी का अद्‌भुत शौक था । और इसी शौक ने महेन्द्र गोप के शरीर को अद्‌भुत बलिष्ठ और गठीला बना दिया था ।

अत्यन्त गरीब घराने में जनमनेवाले महेन्द्र गोप की आँखों में भूमिपति-धनपति काँटे की तरह चुभते थे । नतीजा हुआ कि महेन्द्र गोप और श्रीगोप अपने अन्य साथियों के साथ गिरफ्तार कर बांका जेल भेज दिये गये । महेन्द्र गोप और श्रीगोप की ताकत का ही अनुभव कर अंग्रेज अफसरों के इशारे पर १७ अगस्त १९४२ में बांका के तत्कालीन एस. डी. ओ. एस. खां ने इन दोनों के साथ कई लोगों को इस शर्त पर छोड़ा कि वे जेल से निकल कर गाँवों को लूटेंगे, क्रांतिकारियों की हत्या करेंगे ।

लेकिन हुआ उल्टा ही । महेन्द्र गोप साथी श्रीगोप के साथ परशुराम दल में शामिल हो गए, और क्रांतिकारियों के अगुआ ही नहीं, गरीबों के देवता भी बन बैठे । महेन्द्र गोप के क्रांतिकारी साथियों में कुछ प्रमुख थे जेठौर जमुआ के प्रद्युमन सिंह, भितियाखेसर के शीलधर सिंह, रामपुर के नौमी पैरघो, सबलपुर के लड्डू सिंह, जयनन्दन सिंह, कृष्ण सिंह उर्फ 'हिटलर', शादपुर बाँका के जगदीश सिंह, फागा के भुवनेश्वर मिश्र ओढ़हारा के सहदेव मिश्र । सबलपुर बौंसी के ही फूलों

सिंह, नीलमणि प्रसाद सिंह, इटहरी बाँध के गुलाबी बैठा, इटहरी गांव के ही अधिक राय, शिवनारायण सिंह उर्फ मुसोलनी, दुधारी के जागेश्वर बैठा, भीमसेन बांध के बेरासी यादव, कचनसार बौंसी के जागो साही, पागो साही, श्रवण साही, लक्खी साही, रामेश्वर साही, दुर्गा साही, हरिहर साही, रामोतार साही, भदरिया के राधेश्याम पाठक, भागलपुर के रूद्रदत्त और सूर्यनारायण सिंह, धोरैया के रुद्रेश्वरी प्रसाद सिंह तथा मिर्जापुर के गजाधर यादव और ताखबी यादव ।

यूं तो महेन्द्रगोप थे ही अत्यन्त गरीब परिवार के । माता पंचायती भी कुटौना-पिसौना करती थी और पत्नी भी सत्तू पीस कर जिन्दगी जीती थी, क्रांतिदल में साथ हो जाने पर महेन्द्र गोप का जीवन और भी दुरूह हो गया था। कई-कई रोज तक भूखे या जंगली फलों पर रह जाना पड़ता था । महेन्द्र गोप मांस मछली नहीं खाते थे, लेकिन क्रांति के दिनों में जीवन जीना इतना दुरूह हो गया था कि उन्हें जंगली पशुओं को भी अपना आहार बनाना पड़ा था । संकट तो और भी बढ़ गया, जब श्रीगोप बुलुची सैनिकों से मात्र एक देशी थ्री नॉट के सहारे लड़ते-लड़ते मार्च १९४८ ई. में ककबारा समीप कोझी पहाड़ पर मारे गए ।
तब भी महेन्द्र गोप और उनके अन्य साथी अंग्रेज सल्तनत की मौत की तरह घूम रहे थे । सम्राट महेन्द्र गोप को पकड़ना बहुत कठिन था । अंग्रेजी फौज की टुकड़ी या किसी पुलिस अफसर के आ जाने पर कभी तो वह साड़ी पहन कर निकल जाते और कभी अपने साथियों के कंधे पर रखी अर्थी पर लाश बन जाते ।

दौड़ने के वक्त महेन्द्रगोप के पाँवों में बिजली बँध जाती थी । उनकी छः फूटी सफेद घोड़ी भी हवा से बात करनेवाली थी । परशुराम दल के एक सदस्य चुनचुन ठाकुर ने मुझे बताया था कि सम्राट को वह घोड़ी तेलिया नौगाय के श्री सभापति सिंह से मिली थी । अपनी इसी वेगवती घोड़ी पर बैठ कर महेन्द्र गोप अपनी सीमा का वायुवेग से निरीक्षण करते और देश के दुश्मनों का शिकार भी। दुश्मनों से मुकाबला के समय महेन्द्र गोप घोड़ी पर सीधे नहीं बैठते बल्कि उल्टी दिशा में उनका चेहरा होता। उल्टी दिशा में बैठ कर ही बुलुचियों, टौमियों पर अंधाधुंध गोलियों की वर्षा करते वह जंगल-दर्रों के बीच निकल जाते ।

सम्राट महेन्द्र गोप कोशी अंचल में भी सियाराम सिंह के साथ सक्रिय थे। परशुरामी दल के विराट भुवनेश्वर मिश्र ने मुझसे बताया था कि महेन्द्रगोप की पहली मुलाकात सियाराम सिंह से गुलनीकुशाहा में हुई थी, जब बाबू राजबल्लभ सिंह के आमंत्रण पर नवयुवक महेन्द्रगोप डेढ़ सौ पहलवान के साथ गुलनीकुशाहा के खजुरिया पहाड़ पर उतरे थे और सियाराम सिंह ने महेन्द्र गोप की अदभुत नेतृत्व क्षमता को ही देख कर उन्हें अपने दल के लिये भुवनेश्वर मिश्र से माँग

लिया था ।

अंग्रेजी फौजियों का अत्याचार बढ़ता जा रहा था और इससे परशुरामदल के क्रांतिकारी भी उग्र से उग्रतम हुये जा रहे थे, जिस कारण ब्रिटिस पार्लियामेंट में भी यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ था कि यह परशुराम दल क्या है ? बौंसी, बांका भारत के किस खंड में है । ये महेन्द्रगोप और परशुराम सिंह कौन हैं ? कौन हैं विराट भुवनेश्वर मिश्र आदि-आदि ।

दरअसल बयालिस के आते-आते इन क्रान्तिकारियों ने ब्रिटिस सरकार की सुरक्षा की सारी चूलें हिला दी थी । देखते-ही-देखते महेन्द्रगोप के साथ और कई क्रांतिकारी आ मिले थे, जिनमें चटमा के पशुपति सिंह प्रबल, सबलपुर के राघवेन्द्र सिंह, बेलडीहा के नरसिंह प्रसाद सिंह, गुलनी कुशाहा के शशि प्रसाद सिंह प्रमुख थे । अकेले महेन्द्रगोप के ही साथ ढाई सौ आदमी हमेशा सक्रिय रहते थे। जमुआ के तेतरु सिंह तो सम्राट गोप के सलाहकार ही थे ।

ई. १९४३ के जून की बात है, जब सम्राट गोप विराट भुवनेश्वर मिश्र, नीलकंठ मिश्र और वैकुण्ठ मिश्र के साथ फागा गाँव में कपड़े के थानों को जलाने की योजना बना रहे थे, तभी तत्कालीन बांका थानाधिकारी शांतिबाबू के निर्देश पर बुलुचियों ने उन्हें आ घेरा । बुलुचियों की संख्या इतनी थी कि महेन्द्र गोप घोड़ी पर उल्टी दिशा से सवार हो, गोलियाँ चलाते भाग निकले । मिश्र बन्धु गाँव की उत्तर दिशा की ओर भागे और महेन्द्र गोप पूर्व की ओर । लेकिन टौमी भी तो उसी ओर भागे आ रहे थे । कोई रास्ता नहीं देख सम्राट अपनी घोड़ी वहीं छोड़ पश्चिम दिशा की ओर भागते हुए जंगल में खो गए और इस तरह उनकी वफादार दोस्त घोड़ी टौमी फौज की गिरफ्त में आ गई ।

साढ़े छः फीट के ऊँचे कद और ३६ इंच की चौड़ी छातीवाले महेन्द्र गोप, जो २० फीट की ऊँचाई बिना किसी कठनाई के फांद जाते थे, क्षमाशील भी कम नहीं थे । तभी तो उन्होंने इनाराबरन के अंग्रेज मुखबिर, जिसे सरकार की ओर से पुलिस और राइफल भी मिली थी, राधे को भीतिया के जंगल में पकड़कर भी छोड़ दिया था ।

लेकिन सम्राट महेन्द्रगोप की यही क्षमाशीलता ही एक दिन अभिशाप बनकर उतरी । लाठी भाँजने, गोली चलाने और दौड़ में जोड़ नहीं रखनेवाले महेन्द्र गोप १०४ डिग्री के ज्वर से पीड़ित थे और सुईया के घने जंगल के बीच एक आदिवासी-घर में आराम कर रहे थे तभी राधे ने इसकी सूचना अंग्रेजी सरकार को दी और सम्राट महेन्द्र गोप चारो ओर से सिपाहियों द्वारा बंदी बना लिये गए। कहते हैं घंटों अंग्रेज सैनिकों को झोपड़ी के अन्दर घुसने का साहस ही नहीं हुआ

था । यह इतिहास बताते-बताते विराट भुवनेश्वर मिश्र अश्रुपूरित हो गये थे । महेन्द्र गोप गिरफ्तार तो हो गए लेकिन कहते हैं राधे भी गलित कुष्ठ का शिकार होकर मरा ।

बित्ते भर की चौड़ी गर्दन और गले में काले सूते से लटकती लम्बी चकत्ती, धोती-कुरता के शौकीन और अपनी आँखों को हमेशा सभी दिशाओं में चौकस रखनेवाले श्याम वर्ण के सम्राट महेन्द्र गोप की गिरफ्तारी होनी थी कि इसके साथ ही दल के अन्य क्रांतिकारी भी एक-एक कर गिरफ्तार होते चले गए। शुकदेव मंडल और इनके भाई वृजमोहन, सूरजनारायण चौधरी, नौमी पैरघो तो महेन्द्र गोप के साथ ही पकड़ लिये गए थे ।

ई. ४३ में सियाराम सिंह और क्रांतिकारी ब्रह्मचारी के साथ सोनबरसा थाने में आग लगाने वाले गिरफ्तार महेन्द्र गोप को ई. ४४ के अक्टूबर में पूछताछ के लिए भागलपुर नाथनगर के कर्णगढ़ पर लाया गया, जहाँ से उन्हें भागलपुर सेंट्रल जेल पहुँचा दिया गया और फिर २४/२/४५ को पटना से प्रकाशित समाचार पत्र आर्यावर्त में हृदय विदीर्ण कर देनेवाली यह खबर छपी—''२२ फरवरी, भागलपुर के दौरा जज श्री राम स्वामी आई. पी. एस. ने सम्राट बनाम महेन्द्र गोप को तथा तीन अभियुक्तों के मुकदमें का फैसला आज सुना दिया । महेन्द्र गोप को फाँसी, तथा भुवनेश्वर मिश्र, ध्रुवराज साही और केसर महतो नामक तीन अन्य अभियुक्तों को आजीवन कारावास का दण्ड दिया गया ।

और १३ नवम्बर १९४५ को जेल में बंद दूसरे क्रांतिकारियों ने देखा कि किस तरह एक इतिहास अपने गले में फाँसी डाले मुस्करा उठा था । कहते हैं वह दिन शनिवार का था—फांसी का या गिरफ्तार का । ढेर सारी बातों के साथ इतिहास यहाँ भी मौन है, लेकिन साहित्यकार नहीं । उन्हें याद करते कवि धनञ्जय मिश्र लिखते हैं :

फाँसी कहेगी/कथा/महेन्द्र गोप/तुम न कहो ।
महेन्द्र गोप/मंदार-सा पवित्र/जिसकी कथा ।
तिलक जैसा/भारत-भाल पर/महेन्द्र गोप ।
महेन्द्र गोप/आजादी की कहानी/चन्दन-पानी ।

(हिन्दुस्तान : २५ अक्टूबर २००७)

यह, अंगप्रदेश के महाजनक की कथा है

वह महाजनपद के निर्माण का युग था । ईसा पूर्व चौथी-पाँचवी सदी के आस-पास का युग । अंगप्रदेश अपनी सम्पूर्ण राजनीतिक, सामजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक शक्ति के साथ महाजनपदों में अग्रगण्य बन गया था और जनपदों-महाजनपदों के बीच ही नहीं; अन्य द्वीपों-द्वीपान्तरों में अंग के उपनिवेश स्थिर हो चुके थे । प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. राधाकृष्ण चौधरी 'हिस्ट्री ऑफ बिहार' में लिखते हैं—भारत के पूरब के देशों में आर्य-उपनिवेश-काल में जो उपनिवेश कायम हुए, उनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान चम्पा (अंग) उपनिवेश का है, जिसका नाम अंग जनपद के लोगों ने चम्पा नगरी के नाम पर रखा था । और 'संस्कृति के चार अध्याय' में रामधारी सिंह दिनकर ने लिखा है कि हिन्द-चीन में समुद्र के किनारे चम्पा राज्य की स्थापना द्वितीय शती में हुई । यहाँ भी राज्य का चम्पा नाम इसलिए प्रचलित हुआ कि राज्य स्थापित करने वाले हिन्दू चम्पा (भागलपुर) से आये थे । इन सभी द्वीपों का नाम अंगद्वीप था ।

समुद्र पार देशों में अंगवासी वाणिज्य-व्यापार के लिए गये थे, संस्कृति का साम्राज्य तो बाद में स्थिर हुआ । व्यापारिक संबंधों को लेकर अंगवासी कम्बोडिया तक ही नहीं गये, जहाँ उन्होंने चम्पा ही नहीं बसाई, अंग के नाम पर 'अंगकोर' राजधानी की स्थापना ही नहीं की, राजधानी के मंदिरों में समुद्र-मंथन के चित्र ही नहीं बनवाये और मंदार मधुसूदन के नाम पर नगरी ही नहीं बसाई, बल्कि कम्बोडिया से बाहर अंगवासी पूर्व, उत्तर, मध्य एशिया तक भी व्यापार संबंध को लेकर पहुँचे । वहाँ आज भी बुशाका नाम से एक नगर है । इतिहासकार ज्योतिष चन्द्र शर्मा ने पहली बार मुझे यह बताया था कि बुशाका शहर अंगप्रदेश के उस महिला के नाम पर है, जिसका नाम 'विश्वका' था। आज जहाँ मुगेइर शहर है और जो उस समय उर नगर कहाता था, उसी नगर में अंग की बेटी ने एक बहुत बड़े हॉटल का निर्माण किया था, जहाँ जा कर अंग प्रदेश के व्यापारी ही नहीं, अन्य देशों के व्यापारी भी ठहरते थे । विश्व भर के व्यापारियों का पड़ाव बन जाने के कारण ही अंग के व्यापारियों ने उसका नाम विश्विका रख दिया था । शर्मा जी के अनुसार ही इसका उल्लेख भगवतशरण उपाध्याय के इतिहास ग्रंथ 'वृहत्तर भारत' में भी मिलता है ।

समुद्री मार्ग से विदेशों के साथ अंग का यह व्यापारिक संबंध ईसा शती के बाद तक अबाध गति से चलता रहा । चम्पा के प्रसिद्ध चंद्रधर सौदागर की

कथा ईसा पूर्व तीसरी चौथी सदी की कथा है, जिस कथा में चन्द्रधर (चांदो) व्यापारी के पुत्रों का जहाज सहित समुद्र में डूब जाने की भी कथा है । वैसे इस कथा में ये व्यापारी विषहरी देवी के क्रोधवश डूबते हैं, लेकिन कई बार तो किसी देव या देवी के बिना क्रोध ही व्यापारी जहाजी मित्रों के साथ समुद्र की कोख में समा जाते ।

पहली सदी ई. का युग । जब आज के विज्ञान ने अपनी आँखें भी नहीं खोली थीं, तब समुद्र की उठती उत्ताल लहरों पर क्षुद्र जहाज का चंचल हो उठना! कैसा भयावह दृश्य होता होगा । जब सम्पूर्ण शक्ति से लैस और सजग आज का विज्ञान भी टाइटेनिक जहाज को नहीं बचा पाया, तब व्यापार के लिए समुद्र पर निकले अंग के जहाजों की रक्षा का भार सिर्फ ईश्वर पर ही हो सकता था, जैसा कि महाजनक के साथ हुआ ।

महाजनक । अंगप्रदेश का युवक व्यापारी । आश्चर्य की ही बात है कि चम्पा के चांदो सौदागर की कथा तो जन-जन को मालूम है, लेकिन चम्पा के ही युवक सौदागर महाजनक की कथा शायद ही किसी-किसी को । उस समय चम्पा का बन्दरगाह देश के विख्यात आन्तरिक बन्दरगाहों में था ।

महाजनक की कहानी इस तरह है कि अपने सात सौ व्यापारी मित्रों के साथ वह जहाज पर सवार हो गया और निकल पड़ा सुवर्ण भूमि (अंगद्वीप) की ओर । लेकिन दुर्भाग्य देखिए, अभी जहाज बंगाल की खाड़ी को पार भी नहीं कर सका था कि पूर्वी समुद्र के थपेड़ों से जहाज ही टूट गया । लहरों के भीषण उत्पात से महाजनक के व्यापारी साथियों का रक्त-स्राव हो चला और देखते-ही-देखते समुद्र की नीली लहरें रक्तिम हो चलीं ।

यह देख महाजनक जहाज के मस्तूल पर जा चढ़ा । बदन को तेल से चिकना किया और कूद गया समुद्र की चक्रवाती लहरों पर । महाजनक की देह अपने ही मित्रों के रक्त से लाल हो रही थी, लेकिन वह हिम्मत नहीं हारना चाहता था, उसने दुगने वेग से लहरों को काटना शुरू किया । उसकी साँसें फूलने लगी थीं । हाथ-पाँव शिथिल हुए जा रहे थे । आँखें एकदम निस्तेज । फिर भी अपने प्राणों की शक्ति निचोड़ कर वह निकल जाना चाहता था । उसके पास सहारा के नाम पर जहाज का एक तख्ता भर था, जिसके सहारे वह तैरे जा रहा था ।

कि तभी समुद्र की देवी (शायद उस प्रदेश की राजरानी) मणिमेखला वहाँ पहुँची और उसे इस तरह समुद्र के बीच जीवन के लिए संघर्ष करता देख कहा, ''युवक, तुम इस तरह उद्यम क्यों कर रहे हो, जबकि तुम्हें मालूम है—इस समुद्र का कोई किनारा तुम्हारे सामने नहीं और जब किनारा नहीं हो, श्रम ही

निरर्थक है । तुम तो तट पर पहुँचे बिना ही मर जाओगे ।''

यह सुनकर महाजनक की सम्पूर्ण चेतना जैसे लौट आई । उसने कहा, ''लोक में जब तक बन पड़े, मनुष्य को श्रम करते ही रहना चाहिए, भले ही कोई किनारा दिखे या न दिखे या उसकी मृत्यु ही क्यों न निकट हो । उद्यम करता मरूंगा, तो मुझे भी पछतावा नहीं होगा और अपने देवों-पितरों के ऋण से भी मुक्त हो जाऊँगा ।''

महाजनक की इस उक्ति को सुन मणिमेखला ने पुनः-पुनः कहा कि जिस उद्यम का कोई परिणाम ही नहीं निकले, वैसे उद्यम से क्या ? तुम्हारी मृत्यु निश्चित है ।

लेकिन देवी की यह भविष्यवाणी महानाविक को बेचैन नहीं कर सकी, बल्कि उसने और भी दृढ़ता के साथ गीता के स्वर में कहा कि मनुष्य को परिणाम की चिन्ता किए बगैर अपने कर्म में लीन रहना चाहिए । देवी, देखती नहीं कि मेरे सभी मित्र मृत्यु को प्राप्त कर गये हैं, फिर भी सागर के किनारे पहुँच जाने के लिए मैं उद्यमरत हूँ ।

कहते हैं, महाजनक का यह दर्पभरा वचन सुन, देवी मणिमेखला ने अपनी बाँहें फैला दीं और देवी की कृपा से ही वह पुनः अपनी जन्मभूमि चम्पा लौट आया । अंग महाजनपद के इस महानाविक महाजनक की कथा श्रीजयचन्द्र विद्यालका के इतिहासग्रंथ 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' में भी दर्ज है ।

आज भी चम्पा के किनारे खड़े होकर जब उस महाजनक की कथा कोई स्मरण करे, तो संभव है कि उसकी आँखों में चम्पा तट पर समुद्र-सी लहराती गंगा का दृश्य उभर जाए और लंगर डाले बड़े-बड़े जहाजों की पंक्ति उभर आए । वैसे यह अलग बात है कि चम्पा की उसी जगह पर अब गंगा की एक मटमैली, बदरंग धार ही प्रवाहित होती है, अपने अतीत की भव्य स्मृतियों में खोई—जहाँ किसी चांदो सौदागर या महाजनक का जहाज तो क्या, किसी नाविक की क्षुद्र नैया भी नहीं डोलती । कल जब गंगा की यह धागे-सी पतली धार भी सरस्वती बन जायेगी, तब कौन याद दिलाएगा महाजनक की यह शौर्य-गाथा ?

(हिन्दुस्तान : १ नवम्बर २००७)

लाली-लाली डोलिया चढ़ी ऐलै कालिका मैया

श्याम वर्ण की विशालाक्षी । सिंहासन मुद्रा में भयावह रक्तिम जिह्वा और इस स्थिति में देवी के चेहरे पर रौद्र भाव है या पश्चाताप का—यह बोध से बाहर ही रह जाता है । गले से लेकर घुटने तक नरमुंडों की लटकती माला । कमर में कटे हाथों की पाँत, जो अर्द्ध घाघरे के रूप में देवी को नग्न होने से बचाती है। फिर दो हाथों ही जगह चार हाथ, तीन हाथों में आयुध-अस्त्र और एक हाथ में किसी का कटा हुआ सर ।

अमावश्या की भयावह रात में श्यामवर्णी यह विशालाक्षी कौन है ? न जाने किस लोकमानस ने कब, किस कारण यह रूप गढ़ा था, जिसे समझने में बाद के अभिनव मन ने कैसी-कैसी कल्पनाएं कर लीं, उस आदिमानस से बहुत दूर होकर, जिसके बारे में कभी लोकमानस ने सोचा भी नहीं होगा ।

कल्पना की इसी फिजूलखर्ची के कारण नृतत्वशास्त्री देवी काली की मूर्त्ति में माँ और आक्रमणकारिणी का भेद नहीं कर सके । चूँकि भारतीय विद्वानों में मिथकों का समाजशास्त्रीय अध्ययन पाश्चात्य का प्रसाद है, इसीसे भारतीय मिथकों का अध्ययन भी इन विद्वानों ने उन्हीं आँखों से किया । नतीजा यह हुआ कि देवी काली के श्याम रंग का वास्तविक अर्थ उनकी पकड़ से बाहर ही रह गया। फिर वह देवी की कपाल-माला, हस्तवसन का क्या अर्थ समझ पाते ।

नृतत्वशास्त्री ने देवी के श्याम वर्ण से यह अर्थ लगाया कि यह उन अनार्य जाति का प्रतीक है, जिसका संघर्ष भारत में बाहर से आये आर्यों से हुआ। चँकि अनार्यों के प्रति आर्य अत्यधिक असंवेदनशील-असहनशील थे, इसी से प्रतिकार में अनार्य जाति आर्यों के विरोध में हिंसात्मक कार्यवाही के लिए मजबूर हुई । देवी के गले में मुंडों की जो माला है और कमर में जो हस्तवसन, वे उन्हीं असंवेदनशील आर्यों के मस्तक और हाथ हैं ।

प्रारम्भ में समाजशास्त्रियों का यह तर्क भारतीय विद्वानों को एकदम हतप्रभ-सा कर गया । लेकिन अब नई खोजों, नये तथ्यों के समक्ष आने और सिंधु लिपि के नये पाठ से यह बात सिद्ध होने लगी है कि आर्यों ने अनार्यों को नहीं उजाड़ा, न ही अनार्यों का आर्यों के प्रति इतना हिंसात्मक व्यवहार ही किसी युग में रहा । भारतीय मिथकों, प्रतीकों का नृतत्वशास्त्रीय अध्ययन का यह सबसे बड़ा दुर्बल पक्ष रहा है कि इसमें आध्यात्मिक, नैतिक, तांत्रिक चेतनाओं को

प्रायः जातीय तथा वर्गीय संघर्षों से जोड़ कर देखा गया ।

मैंने पढ़ा है, एक भारतीय मनीषी की व्याख्या, कि क्या है गले में मुण्डों की यह माला ? यह मुण्डमाला आर्यों के कटे मस्तक नहीं, ये तो वे अक्षर हैं, जिनका क्षय नहीं होता । देवी काली का रूप, महाप्रलय ही का प्रतिरूप है । जब सारे पंचभूत एक दूसरे को निगलते चले जाते हैं, यहाँ तक कि प्रकाश को अन्धकार निगल कर मौन हो जाता है; उस समय सृष्टि के सभी पंचभूत, तन्मात्राएँ आदि, बस अक्षर रूप में शेष रह जाते हैं, पुनर्निर्माण के बीज एकत्रित होकर एक जगह सिमट जाते हैं ।

देवी काली के गले में नरमुंडों की माला, उन्हीं अक्षरों का प्रतीक है । इन मुंडों की संख्या भी उतनी ही है, जितनी अक्षरों की । कहीं मुंडमाल बनाने के पीछे यह अर्थ तो नहीं कि अक्षरों की ध्वनि का केन्द्र चूँकि मनुष्य का मस्तक ही है, इसीसे प्रतीक रूप में वहाँ नरमुंड ही रख दिए गये ? तब अस्वाभाविक भी नहीं लगता कि देवी का स्वरूप, इतना श्याम क्यों है । प्रकाश को निगल गये महाप्रलय का रूप तो आखिर यही हो सकता है । तो क्या देवी का यह भयावह रूप हमें महाप्रलय की कथा कहता है । कहता है, तो क्यों ? शायद इसलिए कि मनुष्य सारे उत्सवों के बीच, सारे भोगों के बीच यह भूल न जाए कि उसकी अन्तिम मुलाकात मृत्यु से ही है ।

जब मृत्यु ही जीवन की अन्तिम परिणति है, तब उद्दाम भोग-विलास और भोगाचार का क्या अर्थ ? सोचते ही सम्पूर्ण शरीर सिहर जाता है और मन अनायास ही सामान्य जीवन-गति पर चल पड़ता है । क्या कभी हमारे पूर्वजों ने समाज की सामान्य गति की सुरक्षा के लिए ही श्यामवर्णा, विशालाक्षी, अद्वितीया की परिकल्पना की थी ? या फिर यह कृप्रवृतियों पर सद्वृति का क्रोध है ?

बात कुछ भी हो सकती है, लेकिन वह बात तो शायद ही, जो भारतीय समाज से अनभिज्ञ नृतत्वशास्त्री बताने की कोशिश करते रहे हैं । देवी का श्याम वर्ण अनार्य कन्या का रंग नहीं है । हमें स्मरण रखना चाहिए कि हिन्दू देवियों पर लाल और श्याम रंग के अपने-अपने अर्थ हैं । लाल रंग रति रागसिक्त कन्या का प्रतीक है, जबकि श्याम वर्ण माता का प्रतीक । मैंने पढ़ा है कि जो देवी रक्त वर्ण की होती है, रतिरंग में रंगी, उसके वक्ष का उभार नियंत्रित होता है, लेकिन श्यामवर्ण देवी, जो माता का प्रतीक हैं, के वक्ष का उभार रक्तवर्णी देवी से भिन्न एक विशेष उभार लिए होता है । इसी से हम समझ सकते हैं कि भारतीय मन ने देवी काली में सदैव मातृरूप का दर्शन किया है । अंगिका के जितने पारम्परिक कालीगीत है, जो देवीगीत के नाम से प्रसिद्ध हैं और जो इस विशालाक्षी, उन्नत

उरोजवाली देवी की अभ्यर्थना में गाये जाते हैं, उनमें मातृहृदय की ममता और वत्सल्य का ही सागर उमड़ता है । एक नहीं, अंगिका में ऐसे कई लोकगीत मिल जायेंगे जो देवी काली के मातृरूप के ही उपासना-गीत हैं ।

इन पंक्तियों को लिखते-लिखते मेरे मानस में अंगिका के ही एक पारंपरिक अति लोकप्रिय कालीगीत की पंक्तियाँ लय में उभरने लगी हैं और इसके साथ ही माँ की ममता और वात्सल्य के वे कई-कई दृश्य भी—देवी काली लाल रंग की डोली पर चढ़ कर आई है, वह घर-घर से पूछ रही है—मेरे भक्त का घर कौन-सा है और यह जानकर कि उसके भक्त का घर वही है, जो ऊँचे महल की तरह दिखता है, जिसके पूर्व में दुआर है और दरवाजे पर अशोक का वृक्ष, तो देवी डोली पर चढ़ी उसी ओर चल पड़ती है । द्वार पर पहुँच कर भक्त के बारे में पूछ-ताछ करती है । भक्त की माँ देवी को देखते ही कहती है—दूर हटो बूढ़ी कलिका, तुम्हारा भक्त तो छः महीने पहले ही मर गया ।

सुनकर देवी कहती है, तुम मुझे वह स्थान दिखाओ, जहाँ मेरे भक्त की चिता सजाई गई थी । उत्तर मिलता है—वह तो सावन-भादो का दिन था, उमड़ती नदी ने तो चिता के कण-कण को समेट लिया होगा।

सुनते ही देवी डोली पर बैठ गोड़ी (मछुआरा) के पास पहुँच गई, जिसका घर तीसरे ही कोस पर था । देवी वहाँ पहुँची, तो वह मध्य रात्रि का समय था ।

पहुँचते ही व्याकुल बनी कहती है—उठो गोड़ी, मैं बहुत आस लेकर तुम्हारे पास आई हूँ । सुनते ही गोड़ी कहता है—तुम्हारे ऊपर कौन-सी विपत्ति आ गई है कि इस तरह मध्य रात्रि में तुमने मुझे कच्ची नींद में ही जगा दिया है । देवी सबकुछ बताती है । सुनकर गोड़ी कहता है— मैं तुम्हारी विपत्ति दूर कर दूँगा, लेकिन इसके बदले तुम मुझे क्या दोगी ? देवी कहती है :

जलवा दिलौना रे गोड़िया
काने दोनों सोनमा रे
आरो देबौ गल्ला गिरमल हार रे

तो सुनते ही गोड़ी बोल उठता है :

अगिया लगैबौ कलिका मैया
कानें दोनों सोनमा रे
बजड़ा खसैबो गिरमल हार हे

तो कौन-सी बात पर वह राजी होता है ? राजी होता है, जब देवी इस बात पर राजी हो जाती है कि गंगा में महाजाल फेंकने पर वह उसे दोनों हाथों से यश देगी, और उसको पुत्र भी प्राप्त होगा ।

गंगा में महाजाल फेंका जाता है । एक बार नहीं, दो बार नहीं, तीसरी बार भी, लेकिन निकलता क्या है—घोंघा और शैवाल । नाराज गोड़ी बोल उठता है—दूर हटो बुढ़िया कलिका, तुमने मुझे झूठ ही कहा था, आखिर तुमने मुझसे छल क्यों किया ? देवी कहती है—तुम मेरा नाम लेकर महाजाल फेंको ! और ऐसा करना था कि जाल के सहारे भक्त निकल आता है । देवी अपनी एक अंगुली चीरती है, उससे अमृत निकलता है, और भक्त पर छिड़क का उसे जीवित कर देती है । फिर उसे डोली पर लिए उसके घर की ओर चल पड़ती है । तीसरा कोस पहुँचते-न-पहुँचते डोली भक्त के द्वार पर आ लगी है । भक्त की माँ को हाँक देती देवी कहती है :

कहाँ गेलै किए हे भेलै
भगता के मैया हे
आपनोॅ दुलरुवा के गोदी ले सटाय हे

और मृत पुत्र को जब उसकी माँ ने देखा, तो आनन्द से विह्वल हो बोल उठती है :

जैसें घुरैल्हैं कलिका मैया
हमरोॅ दुलरुवा हे
वैसें दुनिया कें दिहै घुराय हे

(जैसे तुमने मेरे पुत्र को वापिस किया है, वैसे ही सारी दुनिया के सुखों को वापिस करना)

मुझे लगता है, यह जो अमावश्या की अंधेरी रात में देवी काली के समक्ष लाखों-करोड़ों मस्तक नत हैं, उनमें भगत की उसी बूढ़ी माँ की खुशी और कामना ही तो निहित है ।

(हिन्दुस्तान : ८ नवम्बर २००७)

हमरा पर होय्यौ सहाय हे छठी मैया

दिल्ली की महरौली ही अटूट साम्प्रदायिक एकता के लिए 'फूलवालों की सैर' का उदाहरण नहीं दे सकती, बिहार के अंगप्रदेश के पास भी ऐसा ही एक उदाहरण है, और वह है छट पर्व । आज से लगभग दो दशक पूर्व या इससे भी अधिक पहले, 'अकबर' महाकाव्य के महाकवि अवधभूषण मिश्र ने मुझे बताया था (पत्र लिख कर भी) कि ''दरबारे अकबरी में (जो मौलाना हुसेन आजाद लखनवी दरबारी; अकबर दरबार के सदस्य थे) ने यह लिखा है कि अकबर को हिन्दू पंडितों ने यह बताया था कि बाहर बजे रात में यदि रोज एक विशेष सूर्य-मंत्र पढ़ा जाय तो पढ़ने वाला राजा अपने जीवन के किसी भी युद्ध में किसी से पराजित नहीं होगा । उन्होंने यह भी लिखा है कि अकबर वह मंत्र-पाठ करता था । अकबर १५८० ई. में मुगल सेना के विद्रोह से बहुत अधिक विचलित हुआ। अकबर ने ईरान से दिल्ली और दिल्ली से भी दूर मुंगेर में मुगल फौज की अपनी छावनी रखी थी, जब उसकी मुगल सेना ने महान विद्रोह (दि ग्रेट मुगल रिवोल्ट) किया था। इसका प्रमाण यह है कि उक्त विद्रोह को दबाने के लिए वह स्वयं १५८० ई. में मुंगेर आया था । उसने विद्रोह दबाया था । वह सूर्य का बहुत ज्यादा शुक्रगुजार था, इसलिए उसने बिहार में अपनी जीत में सूर्य-पूजा को बहुत कुछ प्रोत्साहित किया । इसीसे यह कहा जा सकता है कि हिन्दू पंडितों से तालमेल बैठा कर उसने छट-पूजा को मात्र बिहार में ही प्रचलित करवाया, क्योंकि उसके पहले इस क्षेत्रों में सूर्य-पूजा (छट) इतनी धूम-धाम से कभी नहीं हुई थी । हिन्दू शास्त्र के अनुसार सूर्य की पूजा माघ सूर्य सप्तमी को होनी चाहिए और फिर षष्ठी चैत में शुक्ल पक्ष षष्ठी को होनी चाहिए । लेकिन यह पर्व अकबर की विजय-अवधि कार्तिक माह में मनाई गई । और इसकी कथाएँ ऊपर से जोड़ दी गई।'' (आंगी, जनवरी १९९६)

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि सूर्य की आराधना आधुनिक है, इस पर्व को महापर्व का रूप सम्राट अकबर की सूर्य-पूजा से भले ही प्राप्त हो सका । अंगप्रदेश के महाभारत-युग के चक्रवती नरेश कर्ण; जो स्वयं सूर्यपुत्र थे, घंटों गंगा में कमर भर उतर कर सूर्य की सांध्यपूजा में लीन रहते थे ।

इतिहास में इसका भी उल्लेख मिलता है, ''रामायण काल के कई सदी पूर्व अंग नरेश दधिवाहन के पौत्र राजा धर्मार्थ ने गया और मुंगेर के बीच लखीसराय (अंग और मगध की सीमा-रेखा) के निकट किऊल, एरुरर, गंगा, इन तीन नदियों के मध्य सूर्य देवता की परम आराधना में, कार्तिक से चैत्र छः माह

तक अवाधगति चलने वाला छट व्रत महायज्ञ का अनुष्ठान किया था, जिसे प्रतीक रूप में (सूर्य पूजा के रूप में) बिहार के प्रत्येक घरों में पवित्रता और सम्मान के साथ छटव्रत मनाया जाने लगा। उस छट व्रत छः माही महायज्ञ का यहाँ मनकट्ठा, अमहरा ज्वास, बमन, गाँवा, धर्मरायचक के अतिरिक्त उन १८० पोखरों में कइयों के अवशेष विद्यमान हैं। तीन नदियों के बीच यह स्थान पुत्रदायिनी के नाम से प्रसिद्ध था । महर्षि वशिष्ठ के निर्देश पर श्रृङ्गि ऋषि ने राजा दशरथ के पुत्रेष्ठि यज्ञ का अनुष्ठान यहीं किया था। विश्वामित्र के पूर्वज राजा भीम और सम्राट अशोक ने भी पुत्र-प्राप्ति हेतु यहाँ ज्योर्तिलिंग महादेव स्थापित किया था।''(आंगी, १९९६)

उससे यह ज्ञात होता है कि सम्राट अकबर के पूर्व भी पर-परिजन के साथ सूर्य की उपासना होती रही थी । और यह मानना भी क्यों अस्वाभाविक होगा कि जिस 'देस' का चक्रवर्ती नरेश ही गंगा के बीच घंटों खड़े हो, सूर्य की आराधना में श्रद्धावनत रहते रहे, उस 'देस' की प्रजा भी वैसा ही अनुकरण न कर रही होगी और इस तरह समूह में सूर्यपूजा ने प्रदेश के धीरे-धीरे पर्व का रूप धारण कर लिया ।

और छट पर्व रूप में स्थिर होते ही उसमें नई-नई धार्मिक-कथाएं भी जुड़ती गई हों—खास कर 'छटी' को लेकर । 'छट' इस छटी के अन्ताक्षर 'ई' के लोप का लघु रूप है ।

मुझे लगता है कि यह छटी, जिसे हिन्दू 'मैया' कह कर पुकारते है, सूर्य की छटा ही है। यह सूर्य की छटा ही है जो सूर्य को सूर्य बनाती है। धार्मिक व्याख्या है कि शिव के पूर्व लगी 'ई', 'ई' जो शक्ति का प्रतीक है, को हटा दिया जाय, तो शिव शव हो जायेंगे। ठीक जैसे कि सूर्य से उसकी छटा यानी उसके तेज को हटा दिया जाए तो सूर्य निस्तेज हो जायेगा। तो यह जो सूर्य-पूजा है, वास्तव में सूर्य की छटा या छटी की ही पूजा है। इसे अन्य संदर्भों से भी समझा जा सकता है।

वैसे भी हिन्दुओं में अर्द्धनारीश्वर की मान्यता अत्यन्त प्राचीन है। अगर सूर्य में भी इसी कारण उसकी शक्ति (छटी) की कल्पना अंगप्रदेश के लोकमानस ने कर ली हो, तो क्या आश्चर्य है। और फिर अंगप्रदेश तो 'स्त्रीखंड' ही कहलाता है, इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि सूर्य की शक्ति को प्रधानता मिलती। सूर्य-पूजा केन्द्र में रही जरूर, लेकिन पूजा चल पड़ी छटी मैया की, सूर्य की तेज शक्ति की ही ।

अँगना में पोखरि खनायल छठि मैया अयतिन आइ
दुअरा पर तमुआ तनायल छठि मैया अयतिन आइ

अंचरा सॅ गलिया बोहारब छठि मैया अयतिन आइ
केरबा के आनबै डाला भरी तै पर पियरी ओढ़ायब
छठि मैया अयतिन आय हे हाथी पर कलशा बैठायब
तै पर दीया जगमगाय छठि मैया अयतिन आइ ।

एक बात और । यह जो इस पर्व में सूर्य से पुत्र की कामना की जाती है, उसके पीछे भी सूर्य पुत्र कर्ण की तेजस्विता प्रेरक रही हो, तो अस्वाभाविक नहीं। वैसे धर्मार्थ की कथा से छट के पुत्रव्रत रूप पर प्रकाश तो पड़ता ही है ।

लेकिन प्राणदायी इस सूर्य की पूजा कातिक मास में ही क्यों, अगर अकबर की ऐतिहासिक विजय और धर्मार्थ की छट पूजा को थोड़ी देर के लिए नेपथ्य में रखकर सोचें ?

उत्तर आयेगा, यही तो वह मास है, जब ठंड अपने पाँव पसारना शुरू करती है । और जब ठंड अपने रूप में आती है, तब तो 'सुबाला, दुसाला, विशाला चित्रशाला', के बीच से जीवों को उठा ले जाती है ।

क्यों न काँप जाए प्राण । जीवन भर ही तो सूर्य-पूजा होती है, लेकिन इस माह में इतने मनोयोग से पूजन का एक और विशेष अर्थ है कि—हे सूर्य देव, आप इसी प्रकार हमें रोशनी देते रहें, जैसे देते रहे हैं । आपके प्रकाश से ही यह सृष्टि आकार ग्रहण करती है । आपकी रोशनी से ही पृथ्वी पर वन, वनस्पति, वन्य जीवों और मनुष्यों को प्राण मिलते हैं । इसलिए आप उगते ही रहें ! शिशिर प्रलय बनकर सामने खड़ा है । कोई शिशिर तो क्या, महाप्रलय का कुहासा भी आपको नहीं ढक सके !

उगॊं हो सुरुज देव अरघ केरॊं बेर हो पूजन केरॊं बेर
मालिन बेटी फूल लेलें ठाड़ छै उगॊं हे सूरुज देव

वैसे कातिक को हाँक तो अगहन ही देने लगता है, तभी तो शीत का आभास अगहन में ही होने लगता है, और इसी कारण छट के पहले हिन्दू 'डोरा' पर्व भी मना लेते हैं । डोरा भी तो सूर्य-पूजा ही है ।

धीरे-धीरे समय समाप्त होते ही ठंड अपने पाँवों को समेटने लगती है, तब फिर सूर्य की आराधना में अंग-मानस नत हो आभार प्रकट करने, चैत में सूर्यपूजा के तैयार हो जाता है, कि आपने प्रलय लानेवाली शीत से मेरी रक्षा की, हे सूर्य, फिर-फिर आने वाले शिशिर में आप पुनः अपने इसी तेज से मेरी रक्षा करेंगे!

हमरा पर होय्यॊं सहाय हे छटी मैया
हमरा पर होय्यॊं सहाय ।

(हिन्दुस्तान : १५ नवम्बर २००७)

कविता कहाँ बिकती है, कुर्सियाँ बेच रहा हूँ

आप अगर ट्रेन से बौंसी पहुँचते हैं, तो आपको सबसे पहिले चौक आना पड़ेगा । अगर मोटर से जाते हैं, तब तो कोई बात नहीं । आप सीधे चौक पर होंगे और उसी बौंसी चौक से आप को पश्चिम की ओर जाना पड़ेगा । वैसे बहुत दूर नहीं । डैमवाली सड़क पर बढ़ते ही आप, बसन्त साह, युगल साह, सोनी साह, किसी से भी पूछ लेंगे, तो आप को कवि प्राण मोहन 'प्राण' के घर के बारे में पता चल जायेगा । और नहीं तो सीधे हाई स्कूल के पास पहुँच जाइए, वहीं पर आप जगदीश पाण्डेय या राजाराम अग्रवाल से पूछिए । पूछने की जरूरत भी नहीं है । इस्कूल के ठीक दाँयी ओर कवि प्राण का ही घर है ।

हो सकता है अभी भी मूढ़ी-घुमनी और गुड़झिलियावाली दुकान हो । अगर हो, तो वहीं पर खड़े हो दाँयी तरफ नजर घुमाइए । आपको बिक्री के लिए प्लास्टिक की पड़ी कुर्सियों के बीच एक कुर्सी पर कुछ-कुछ बुजुर्ग-सा एक व्यक्ति बैठा मिलेगा । केश रुई-से सफेद, गौर वर्ण का छरहरा बदन । सफेद पजामा-कुर्त्ता। कुर्सियों से बेखबर कविता की दुनिया में खोया हुआ । बस समझ लीजिए, वही हैं कवि प्राण मोहन साह 'प्राण' ।

आप जब उनके पास पहुँच जाइए, तो बिना पूछे एक कुर्सी खींच कर बैठ जाइए । बस इतना बता दीजिए कि आप कवि हैं । फिर तो उन्हें कुछ भी ख्याल नहीं रहेगा दुकानदारी का । कविता की बातों में डूब जायेंगे ।

आज के नहीं हैं कवि प्राण । चालीस-पैतालीस वर्ष पहले ही 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में इनका लेख छपा था । शायद वह लेख आनन्दशंकर माधवन पर था । बहुत श्रद्धा है माधवन जी के प्रति, आज भी है—उनके गुजरने के बाद भी। माधवन जी ही क्यों, कवि रामेश्वर झा द्विजेन्द्र के प्रति ही कम श्रद्धा है क्या ? यह भी हो सकता है कि कवि कुशेश्वर वर्मा के बारे में बताते-बताते इनकी आँखें छलक आए और जब संस्मरण सुनायेंगे इन महान कवियों के बार में, तब इन्हें इस बात की भी खबर नहीं रहेगी कि भीतर से कविप्रिया ने चूड़ियाँ बजाकर या चिमटा खटखटा कर उन्हें बुलाया है ।

एक समय था, अनूप, विमलचन्द्र दास, विजय कुमार सिंह, शशिभूषण सिंह खड़गाहा, जैसे कवियों, लेखकों की बैठकी जमती थी, तब कवि प्राण जवानी की लहर लेकर चलते थे । समय पत्रिका के सम्पादकीय विभाग से जुड़े थे—लेकिन सम्पादन से लेकर प्रूफरीडर तक का भार इन्हीं पर था । घर-द्वार से

विमुख प्रेस में ही बैठे रहते, कविता में खोए । तब कवि कालिकानन्दन झा जीवित ही थे ।

कविता में इस तरह खोए रहने से कवि प्राण को इसका भी पता नहीं चलता कि उनके आस-पास कितना दुख संघर आया है । इन्हें तो जब भी अगर ख्याल रहा, तो बस इसी का :

गरजै छै मेघ पिया लागै छै डोॅर
गुज-गुज अन्हरिया में उठी-उठी बैठै छी
छुच्छे बिछौना पर साँपोॅ रं ऐंठै छी
पुरबा बौछारोॅ सें जरै छै धोॅर
ऐंगना के कद्दू लत भेलै जुआन
गिरी-गिरी उठै छै खोजै मचान
गुलरोॅ के गाछी में लागी गेलै फोॅर
गरजै छै मेघ पिया लागै छै डोॅर ।

जीवन में जहाँ-जहाँ बसन्त था, उसी के रंग और खुशबुओं को पकड़ने की कोशिश की इस कवि ने । यही कारण है कि इनकी कविताओं में प्रकृति का घर मंदार की शोभा रह-हर कर दिखाई दे जाती है :

हे गे बहीनियाँ पिन्हे पैजनियाँ
देखैलेॅ जैबै मनार गे
लाले लाल टिकुली लाले लाल चुड़िया
लाले लाले सेनुरा, लाले लाल सड़िया
लाले लाल झुमका नकवेसर बढ़िया
लाले लाल भोर-भिनसार गे ।

ऐसे ही लाल रंग में डूबी हैं कवि प्राण की आरम्भिक कविताएँ । आप जा रहे हैं तो कवि प्राण से उनकी यह कविता जरूर सुन लीजिएगा :

कमलोॅ केरोॅ पत्ता पर गोल गोल पानी
चढ़ै छै, उतरै छै, खेलै छै बच्चा नांखी
नै देखला तेॅ देखला की ?
घुंघटा तरोॅ केरोॅ लाज
लाजोॅ तरोॅ केरोॅ हँसी—
नै देखला तेॅ देखला की
परदेसोॅ से भेजलोॅ पिया केरोॅ चिट्ठी
चिट्ठी केरोॅ आखर

नै बुझला तें बुझला की

लेकिन कमल पर खेलता गोल-गोल पानी और परदेश से आई पाती के आखर अचानक ही धूमिल हो गये थे, जब इस कवि के बेटे मनोज को भरी जवानी में मृत्यु ने छीन लिया था । लेकिन इससे भी यह कवि पूरी तरह से नहीं टूटा । काल के समक्ष कला कब झुकी है ! मनोज की स्मृति में मनोज एकपत्रक का सम्पादन शुरू कर दिया । कविताएँ ही इस कवि के सारे दुखों को सोख सकती थीं, इसी से यह कवि फिर उसी दुनिया में खो गया—लेकिन कुछ स्वर बदल कर । अब इनकी कविताओं में देश-दुनिया की बेईमानी की भी झांस मिलेगी । देखिए, मेरे पास उनकी यह कविता है :

गांधीजी के गाय/खूब दूहों हो भाय
खुट्टा में बान्ही कें/गोड़ दोनों छानी कें
दहौ चुक्का लगाय ।
खूब पीयों ऐंठी कें/कुर्सी पर बैठी कें
लाठी देखाय दीहों/भागतै सी. बी. आय. ।
दिल्ली में पीयों/बनारस में पीयों
हजार बरस जीयों/तों लाख बरस जीयों
आबें केकरों परवाय ।
जें लेलकै आजादी/दै देलकै जान
भातों लेली कलटै छै/भगत सिंह के माय ।

एक जमाना था जब प्राण मोहन 'प्राण' खूब कविता लिखते थे, खूब छपते थे, लेकिन अब वैसी बात नहीं । लेकिन कवियों-कविताओं के बारे में बातें अब भी शुरू करते हैं, तो रसमय हो जाते हैं ।

पाँच-छः महीने हुए होंगे । बौंसी गया, तो आप-ही-आप मेरे कदम उनके घर की ओर बढ़ गये थे । देखा पचासो कुर्सियों के बीच एक कुर्सी पर बैठे कवि प्राण मोहन 'प्राण' अपनी ही कविताओं का प्रथम संग्रह 'भोर' के पन्नों को उलटा-पुलटा रहे हैं । घंटे भर बातें होती रहीं । उठने लगा, तो मैं पूछ बैठा—''क्या लिख रहे हैं इन दिनों ।'' जवाब कुछ नहीं दिया, उठे और सिर्फ मुस्करा कर रह गये । मुझे लगा, जैसे वह हँसी में ही कह रहे हों—''कविता कहाँ बिकती है, अब तो कुर्सियाँ बेच रहा हूँ ।''

(हिन्दुस्तान : २० दिसम्बर २००७)

समुद्र-मंथन और मंदार : मिथ या इतिहास का सच

असुर-सुर ने निधियों की प्राप्ति के लिए आखिर संगठित रूप से समुद्र का मंथन शुरू किया और जब बासुकी नाग के रज्जू से बंधा मंदार पर्वत घर्षित हुआ, तो धरती की छाती विदीर्ण होने लगी, तब विष्णु ने कच्छप अवतार धारण कर मंदार को पीठ पर धारण कर लिया । पर्वत चक्रवत घूम रहा था । समुद्र में छिपी निधियाँ निकल पड़ीं । कुछ निधियाँ तो सीधे स्वर्ग-मार्ग में उड़ गईं, उनमें एक सुरा भी थी । बाकी एक अमृत के लिए सुरो-असुरों में संघर्ष चला । अमृत के लिए राहू को सर तक कटाना पड़ा । फिर संधि हुई, अन्य निधियों की खोज के लिए । और फिर निकला हलाहल, सारी पृथ्वी जल उठी, तब शिव ने त्राण दिलाया—नीलकंठ बन कर ।

यह कथा क्या सचमुच पुरा कथा है—एक मिथ या कोई ऐतिहासिक सच से जुड़ाव है इसका । जो इसे मिथ से अधिक कुछ नहीं मानते, ऐसे मानने वालों के अपने-अपने निष्कर्ष हैं । एक विद्वान समुद्र-मंथन, मंदार, बासुकी से आर्यों-अनार्यों का भारत के पश्चिमी प्रान्त में मिलन, फिर आर्यों का पूर्व की ओर गमन और अनार्यों का पश्चिमी संस्कृति से सम्पर्क आदि से अर्थ लगाता है, तो दूसरे विद्वान का यही निष्कर्ष है कि समुद्र-मंथन दरअसल सर्वहारा और पूंजीपति के आर्थिक संबंध और आपसी टकराव की कथा है । इस निष्कर्ष के अनुसार सुर सर्वहारा का विरोधी वर्ग है, और असुर सर्वहारा के प्रतीक, जिन्हें अमृत यानी धन के लिए राहू जैसे सर्वहारा को सर कटाना पड़ता है, और सर्वहारा के नेता शिव को भी हलाहल देकर मारने की कोशिश होती है ।

लेकिन अध्यात्मवादी अलग ही अर्थ बताते हैं और समझाते हैं कि मंदार तो शरीर का मेरुदंड है, वासुकी कुण्डलिनी । इसी कुण्डलनी के सहारे हठयोगी और राजयोगी अपने-अपने ढंग से हलाहल-अमृत की प्राप्ति करते हैं ।

कौन किसको गलत ठहराए । मुझे तो लगता है कि समुद्रमंथन इस तथ्य को भी संकेत करता है कि अगर ज्यादा बुद्धि का प्रयोग हो, (बुद्धि, जो मंदार का प्रतीक है) तो आखिरकार यह हलाहल ही उगलती है । इसी से कबीर ने बुद्धि को मन के नीचे ही बताने की कोशिश की और कहा कि प्रेम तो तभी मिल सकता है जब शीश को दिया जाय । बुद्धि का बहुत अधिक प्रयोग विष ही देता है । आज के समय में विज्ञान की विनाशकारी लीला इसका प्रमाण है । तो, समुद्रमंथन

की कथा इस ओर भी संकेत करती है, कर सकती है, लेकिन इस तरह से अगर हम इस पौराणिक कथा से रत्नों की तरह अर्थ दुहते रहेंगे, तो आखिर में हमें भी हलाहल ही मिलेगा यानी ऐतिहासिक घटना शायद हमसे बहुत दूर चली जायेगी।

मंदार यानी करोड़ों-करोड़ वर्ष पुराना ग्रेनाइट पत्थर से बना एक ही चट्टान का, लगभग सात सौ फीट ऊँचा और लगभग चार मील के घेरे में फैला वह पर्वत है, जो न केवल हिमालय से करोड़ो वर्ष पुराना है, बल्कि यह कभी समुद्र के बीच ही खड़ा था । इस पर्वत के पास मिले जीवाश्म से यह बात सिद्ध भी हो चुकी है, कि कभी यहाँ पर सागर लहराता था । भूगोलवेत्ताओं का कथन है कि जब गंगा-जमुना के द्वारा लाई गई मिट्टी से जमीन उठने लगी, तो सागर भी खिसकता हुआ बंगाल की खाड़ी तक चला गया । जब जमीन निकली, तो आदि मानव का विकास भी यहाँ हुआ, जिसे इतिहासकारों ने अनार्य-असुर आदि कहा है ।

ये असुर मंदार क्षेत्र की शक्तिशाली जाति थे, अति सभ्य भी, उनका एकछत्र राज्य था, जिनके प्रमुख सरदारों में मधु और कैटभ भी थे ।

कहते हैं, विष्णु को इन्हीं दो असुर सरदारों से दस हजार वर्षों तक लड़ना पड़ा था । तब कहीं इन पर विजय उन्हें प्राप्त हो सकी । मधु को मारने के कारण ही विष्णु मधुसूदन कहाए और यह भी कथा है कि जब मधु ने सिरकटा होकर भी विष्णु से लड़ना जारी रखा, तब उन्होंने धड़विहीन मधु को मंदार के नीचे दबा दिया और अंगुठे से मंदार को दबाए उसी पर बैठ गए । ये ऐसी ही कुछ बातें कि मधु-कैटभ विष्णु के कर्णमल से जन्मे थे, समुद्र-मंथन की कथा को मिथ बनाती हैं ।

लेकिन कथा से जुड़े इतिहास के सच को इसी कारण नहीं झुठलाया जा सकता है । जो विद्वान सुमेरु पर्वत को मंदार मानते हुए समुद्र-मंथन की कथा उसी से जोड़ते हैं, वे इस ऐतिहासिक तथ्य को भूल जाते हैं कि समुद्रमंथन में असुरों का सहयोग ही प्रमुख है । ये असुर ही बासुकी फन की आग झेलते हैं, जो मंथन उनके द्वारा ही सर्वाधिक श्रम और कष्ट उठाने का परिचायक है, सुर तो पूँछ पकड़े रहे थे, श्रम उन्होंने भी किया, लेकिन असुरों की तरह नहीं । और जहाँ तक असुर-प्रान्त का सवाल है, वह भारत का पश्चिमी हिस्सा नहीं, पूर्वी हिस्सा है । यानी बौद्धकालीन अंगप्रदेश जिसका फैलाव समुद्र तक था।

संभव है, समुद्रमंथन सुरों के साथ मिलकर नहीं हुआ हो, सिर्फ असुरों ने ही किया हो और मंथन में जितनी निधियाँ प्राप्त होने की बात उल्लिखित है, वे असुरों को ही प्राप्त हुई हों । जब बाद में आर्य यानी सुरों का प्रवेश पूर्वी क्षेत्र

में हुआ और विजय इन असुरों या अनार्यों पर हुई, तो कालक्रम से उन निधियों को न केवल सुरों ने हासिल किया हो, बल्कि समुद्रमंथन की कथा में अपनी भी भागीदारी की कथा जोड़ दी । इतिहासकार डॉ. अभयकांत चौधरी ने भी यही संभावना व्यक्त की है और यह भी लिखा है कि आर्यों-अनार्यों के मेल-मिलाप हो जाने के बाद भी असुरों के प्रति आर्यों का घृणा-भाव कम नहीं हुआ था, इसी से कथा में उनको अपमानित करनेवाला अंश भी आर्यों ने जोड़ दिया । डॉ. चौधरी के इस अनुमान के आधार पर यह कहा जा सकता है कि विष्णु के कर्णमल से मधु-कैटभ के जनमने, मधु के सिर कटने, सिरकटा होने के बावजूद लड़ते रहना, उसको मंदार पर्वत के नीचे दबा देना; आर्यों द्वारा मूल कथा में प्रक्षिप्त अंश ही है ।

यहाँ यह विशेष विवेचनीय है कि विष्णु वैदिक देवता नहीं हैं । फिर विष्णु द्वारा ही मधु का वध कराना, कुछ तो सोचने के लिए बाध्य करता है और यह भी विशेष विवेचनीय है कि विष्णु इसी मंदार क्षेत्र के वासी थे । मंदार के क्षेत्र में कई नदियाँ प्रवाहित हैं, उनमें 'चीर' प्रमुख नदी है । अनुमान है कि वैदिक काल में यही चीर नदी 'क्षीर' नदी कहाती होगी जो विष्णु का निवास-स्थान कहा गया है । और यह अनुमान अगर सही है, तो विष्णु के द्वारा मधु के वध की कथा एक बार में नहीं पचती ।

कहा तो यह भी जाता है कि इन्द्र आर्यों के नहीं, असुरों के देवता थे, जिन्हें समुदमंथन का ऐरावत हाथी मिला था और नृतत्वशास्त्री का कहना है कि हाथी और सिंह इसी पूर्वी प्रदेश की सन्तान हैं, जो बाहर से नहीं आये । संभव है, अनार्यों के देवता इन्द्र को बाद में आर्यों ने भी अपना देवता बना लिया हो।

जो भी हो, इतनी बात तो बिल्कुल ऐतिहासिक है कि जब आर्य इस क्षेत्र में आकर बसे और हजारों वर्ष तक आपसी टकराव के बाद आर्यों और अनार्यों में आपसी सहयोग की एक संहिता तैयार हुई होगी तब इसी सहयोग संहिता से इस प्रदेश में नई-नई उपलब्धियाँ भी हासिल हुई होंगी । दो विपरीत प्रजातियों का यही सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक सहयोग का वह संधिपत्र बाद में समुद्र-मंथन की कथा के रूप में लोक में विकसित हुआ । अगर इस पौराणिक घटना में जुड़े आलौकिक, चमत्कारिक प्रक्षिप्त अंश हटा दें, तो मंदार-मंथन की कथा इतिहास की एक घटना बनकर सामने उपस्थित होगी । जिस घटना को लोकमानस आज तक स्मृति में बनाए हुए है ।

सिर्फ कथा के रूप में ही नहीं, पर्व-त्योहारों के रूप में भी समुद्र-मंथन आज भी सजीव है । अनन्त चतुर्दशी, जो विष्णु-पूजन का पर्व माना जाता है, वह

दरअसल समुद्र-मंथन का स्मृति पर्व ही है । एक पात्र में केले, दूध, शहद का मिश्रण जो क्षीरसमुद्र का ही प्रतीक होता है, फिर बर्त्तन के मिश्रण को खीरा फल से घोटा जाना—खीरा जो मंदार पर्वत का प्रतीक है और फिर पूजन के समय ऐसे संवाद कि—'की घोटै छोॅ ? क्षीर सागर घोटै छी' आदि-आदि—लोकमानस में जमी समुद्र-मंथन की कथा को ही तो कहते हैं । लोक कथा या लोकपर्व की जड़ें तो हजारों, लाखों वर्ष की जमीन के नीचे गड़ी होती हैं—इससे कैसे आप इनकार करेंगे?

उसी समुद्र-मंथन की कथा कहता अंगप्रदेश का यह मंदार पर्वत आज अर्थवादी तंत्र का शिकार होने वाला है । जो पर्वत हमारी साझी संस्कृति का कथावाचक है, उस पर सीढ़ियाँ बनाई जायेंगी, ताकि पर्यटक आसानी से शिखर तक पहुँच सकें । इससे शासन और सरकार को अर्थ की तो प्राप्ति होगी, लेकिन हमारी अनर्थकारी अर्थवादी नीति के कारण मंदार पर्वत का जो स्वरूप बिगड़ेगा,उसे फिर करोड़ों शिल्पी मिलकर भी न बना पायेंगे । हमें यह भूलना नहीं चाहिए कि यह मंदार पर्वत ही अंगप्रदेश के करोड़ों-करोड़ वर्ष पुराने होने की भी गवाही है, सिर्फ यह पर्वत नहीं है ।

(हिन्दुस्तान : १० जनवरी २००८)

हो पन्ना दा, की-की होलै अबकी बौंसी मेला में ?

जे कहों, हौ तें नहियें होलों होतै, जे बीस-पच्चीस बरस पहिलें होय छेलै। मार की बैलगाड़ी रों चींटी रं कतार—सौ में पचास ठो टप्परे वाली । लरुआ रों गद्दी कि कटियो टा बाँस ऊस के पतो नै लागें । चर्र-चों-चर्र-चों । वही बीचों में सवासिन रों अपनौती बात—लोंर-जोंर मिलै के बड़का बहाना; पापहरणी में पुण्य स्नान । बाप रे बाप, लोगों के हौ झुमार । पैदले-पैदल हफसली-धपसली पितयैनी साथें पतोहू । की मलकी-मलकी चलै, गोदी के गोदैला घैलों रं कमरी पर लेलें । जत्तें रंगों के मरद-मुंसा आरो जोंर-जनानी, ओत्ते रंगों के कमीज आरो छीटवाली रंगीन साड़ी । जेना लागै, रास्ता पर रंग बुलतें रहें ।

आवें तें हौ रं नहिये नी बोहों ऐतें होतै—मनार आरो मेला देखवैय्या के बोहों । तहिया तें बिन्डोवों उड़ै छेलै खरीदबैया आरो देखबैया के । की मार थियेटर छौं, तें की मार सर्कस । हुन्नें स्वर्ग, नरक के मेला लागलों छौं, तें हिन्नें नाच-पार्टी ।

पापहरणी पर जे भीड़ जुटै, तें जुटबे करै, ओकरा सें कम नै, ई कहौ कि बेसिये भीड़ जुटै थियेटर में । कोस भरी दूरे सें बजरंग थियेटर के आवाज सुनाय पड़ै । समझै में जरियो टा देर नै । छोंर-छबारिक के बात छोड़ी दौ, मरद-मुंसा के कान खराहा के कान रं खाड़ों होय जाय, थियेटर के आवाज पकड़ी कें ई पता लगाबै लें कि आखिर कौन नौटंकी चली रहलों छै—अरे, दही बाली के खेल चली रहलों छै ।

आरो फेनू क्षण्है में दोसरों थियेटर के आवाज । सब कुछ गड्ड-मड्ड ।

पँच-पँच, दस-दस कोस सें चली कें आवै छेलै लोग । की एक्के दिने लेली ? नै । आय साँझे-साँझे चललौं, तें फरचों होतें-होतें पापहरणी पर । संक्रान्ति-लहान होलो तें दिनभरी मेला-ठेला घूमों । आबें जोंर-जनानी तें थियेटर जावें नै पारें, मजकि मरद-छबारिक भला थियेटर देखनें केना लौटें । एक राती सें मोंन भी तें नै भरैवाला । कम-सें-कम दू रात । आबें ठहरौक जोंर-जनानी ध ारमशाला या आपनों कोय लोंर जोंर कन । तखनी तें लोगों में कुटुम पहुनों लेली हुलासो कम नै छेलै । अखिनको नाँखी नै कि बौंसी मेला शुरू होय के पहिलें मोंन मनझमान भै गेलों । तें, आबें लोगो कें फुर्सतो कहाँ छै कि कोय केकरो कन ठहरें। भिहनकी ट्रेन पकड़लकों, फुर्र नाँखी मनार पहुँचलों, रातकों थियेटर

देखलकों और फेनू भिहैनकी ट्रेन सें फुर्र नाँखि घोंर वापिस । यै में भला मेला की जमतै ?

पहिलें तें महीना भरी मेला जमै । हों-हों आदमी महीना भरी । कोन ठियां के आदमी सें भेंट-मुलाकात नै होय जाय आरो कोन पंथ के पंथी नै जुटै । जैन पंथ, सफा पंथ के साथें सनातनी के समुद्र । संताली किशोर-किशोरी के बाँसुली रं शोर । याद करथैं मोंन गनगन करें लागै छै आभियो ।

कुछुवो होलों होथौं; हौ रं तें नहिये होलों होथौं । मेला जमलों होथौं तें दूसरे दिन धम सना बैठी गेलों होथौं । पहिलकों दिन जे जमलों होथौं, वहू तें सरकारे के मूं देखै लेली । वहू में आधों तें सरकारे के अमला-कफला के मूड़ी होथौं । तहिया हेनों नै होय छेलै । मेला के बन्दोबस्त सरकारी आदमी आरो पुलिस नै करै छेलै । मेला के डाक होय छेलै । सुनै छियै ड्रामा के माहिर एक्टर रंगीला के दादां ठेका लै आरो महीना भरी के मेला हेनों व्यवस्थित गुजरै, जेना रामराज रहें । मार की मीना बाजार । मीना बाजार में की मारे टिकुली, हेमानी, सिन्दुर, लट्ठी के दुकानी साथें, किसिम-किसिम के कृषि-मेला । जेबें चुट्टी काटें लागै खरीदवाबै लें ।

सुनै छियै, अबकी शोभा सम्राट थियेटर ऐलों छेलै । भीड़ो खूब जमलै। चलों, कुच्छू तें मेला के दिन घुरलौं । बीचों में तें मेला उजाड़े होय गेलों छेलै । लोगें सोचलकै कि कैबरे लानी कें मेला जमैलों जावें सकै छें । आबें तोंही सोचौ भला—बौंसी मेला में कैबरे डांस केन्हौं कें सुहाबै छै ? कहै छै कि सियारी कें मौंतें घेरै छै तें शहरी दिश भागै छै । आरो फेनू वही होय रहलों छै । मंदार महोत्सव कें सरकारी बनाय कें एकरा जीत्तों करै के कोशिश ?

हो पन्ना दा, जे सरकार खुद्दे जीत्तों नै लागै छै, वैं मंदार महोत्सव कें की जीत्तों करथौं । तोहें तें आपनों बात राखो नै पारलें होभौ । सड़को नै बोलें पारलें होभौ । ला, मोबाइले ठप्प होय गेलौं । मंदारवासी सबसें बड़ों गलती करी रहलों छै कि आपनों गोड़ों के ताकत पर भरोसा नै करी कें काठों के टांग कमरी सें कस्सै लें चाहै छै । हम्में पूछै छियौं पन्ना दा, है जेकि कै सौ साले सें मकर संक्रान्ति मेला बौंसी में लागी रहलों छै, कोनी सरकारी बल्लों पर । की कांग्रेस चलवैलें छेलै, कि जनता दल, की जनसंघ, की भाजपा । आरो की राजद, एन. डी. ए. ? देलकै नी मुख्यमंत्री नीतिशें मंदार महोत्सव कें सरकारी करी ! लेतें रहियों! सरकारिये होय जैथौं, तें की होय जैथौं । जमींदारी के दिनों में कुछ लै-दै कें कामो होय जाय छेलै, आबें तें भीतरिया देलें जा आरो कामो नै । बगले में बुलौक छै। खाँटी सरकारी । की होय छै सरकारी, सब जानथौं मंदार महोत्सव कें सरकारी

करवाय लेॅ मारामारी करी रहलोॅ छौ ! आचरज ।

पन्ना दा । भांगटोॅ सड़ियाबोॅ, तभै सब कुछ सड़ियैतौं । सुनलियै कि अबकी मेला में कवियो सम्मेलन भेलै । हों, एक समय में तहूं ई सब करवाय छेलौ। कवि सम्मेलन में ढेरे कवि मंदार सपूत के उपाधि के अलंकार सें अलंकृत भेलै । मजकि हो पन्ना दा, अखबारी में जेकरोॅ नाम देखलियै, वैंमें सबटा बाहरिये कवि मंदार सपूत भै गेलै । असली मंदार सपूत प्राण मोहन बाबू, अनूप बाबू, विमल दा, उमाकांत यादव, भोला बाबू आरनी के नाम नै छेलै । तबेॅ की करभौ—हेन्है केॅ चलै छै ।

ई बात तेॅ तहूं जानै छौ पन्ना दा कि बौंसी मेला चलै छै पापहरणी सें आरो तोरोॅ पापहरणी सुखलोॅ जाय रहलोॅ छौं । वैतरणी के पानी रं बनलोॅ जाय रहलोॅ छौं आरो तोहें भरोसा करै छां सरकारोॅ पर । तोहें कुछ महीना पहिलें 'हिन्दुस्तान' में पढ़लेॅ होभौ । वैंमें शुरुवे पन्ना पर विजय भाष्कर जी के एकटा रपट छपलोॅ छेलै 'आश्वासन का समाजशास्त्र' । की वहू पढ़ी केॅ हमरो सिनी के आँख आरो दिमाग नै चेतेॅ पारलै । पहलें आपन्हें सें पापहरणी केॅ पापहरणी लायक बनावोॅ । सरकार पर भरोसा के कोय पार छै, तब तांय तेॅ अपने जोरोॅ पर पापहरणी पुण्यहरणी बनी जैथौं । सोच्हौ, मंदार-मंथन सें अमृत निकललै, तेॅ ओकरोॅ एक बूंद सें इलाहाबाद में कुंभ मेला लागेॅ लागलै, आरो हमरा सिनी मटकी भरी पानी लेॅ हाय-हाय ! केन्हौ केॅ बचलोॅ पोखर सिनी बचावोॅ । गर्मी आवी रहलोॅ छै । दुनिया चौगुना-पचगुना तरीका सें साले-साल गरमैलोॅ जाय रहलोॅ छै आरो जों मंदार होने गरमाना शुरू होलौं, तेॅ कहाँ रहथौं मेला आरो थेयटर—नै मीनाबाजार, नै मादल, नै वंशी, नै है कहवैया कि :

हे गे बहिनियाँ, पिन्है पैजनियाँ
देखै लेॅ जैबै मनार गे ।

(हिन्दुस्तान : ३१ जनवरी २००८)

अंग महाजनपद देश और प्रदेश का आंतरिक उपनिवेश-सा हो गया है

बिहार के अंगप्रदेश के सांसद कभी मधुलिमिये बिहार की आर्थिक-सामाजिक और सांस्कृतिक उपेक्षा से व्यथित हो कहा करते थे कि बिहार दिल्ली सरकार का आन्तरिक उपनिवेश बन कर रह गया है, आज वही बात बँटे हुए बिहार में अंग महाजनपद की सांस्कृतिक, आर्थिक और सामाजिक उपेक्षा को देखते हुए कहा जायेगा कि यह महाजनपद इस देश और बिहार का आन्तिरक उपनिवेश-सा बन कर रह गया है । यह बात राष्ट्रपति श्रीमती प्रतिभा पाटिल का विक्रमशिला बौद्ध महाविहार में आगमन को अचानक रद्द कर दिए जाने से और भी पुख्ता रूप से सिद्ध हो गई है ।

आश्चर्य है कि राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं में इस बात के लिए तो भारी चिन्ता है कि एन. डी. ए के किस दल को अगले चुनाव में संसद के लिए उम्मीदवारी मिले, लेकिन उन्हें इस बात की कोई चिन्ता नहीं कि अंग प्रदेश को किस प्रकार देश और प्रदेश की सरकारों ने उपेक्षा के हाशिये पर ला खड़ा किया है । पहले तो इसे दो प्रदेशों में बाँटा गया और बदले में मिला उपराजधानी का दिवास्वप्न ।

जब बिहार में सत्ता-परिवर्तन की आँधी चल रही थी, तब अंग के विधायकों ने अंगवासियों को आश्वासन दिया था कि अंगिका भाषा की अकादमी राज्य में नई सरकार के बनते ही गठित हो जायेगी, वह आज तक नहीं हुई । जो कुछ हुआ, वह यह कि पूर्व मुख्यमंत्री लालू प्रसाद के शासनकाल में जिस 'अंग महोत्सव' को राजकीय महोत्सव का सम्मान दिया गया था, उसे वर्त्तमान की बिहार सरकार ने नक्शे से हटा दिया । अलग बात है कि समय-समय पर उपमुख्य मंत्री से लेकर सांसद तक अगले वर्ष और अगले माह में 'अंग महोत्सव' करवाने का आश्वासन देते रहे, लेकिन 'आश्वासन का समाजशास्त्र' अलग होता है और व्यवहार का समाजशास्त्र अलग ।

अभी शायद अंगवासी इस बात को भूले नहीं होंगे कि पिछले दिनों जब कर्ण महोत्सव की तैयारी जोर-शोर से चल रही थी और यह तय भी हो चुका था कि बिहार के राज्यपाल से लेकर कई केन्द्रीय मंत्री दिनांक १५-१६ दिसम्बर २००७ को आयेंगे, कि तभी अखबारों में यह खबर भी छपी कि कर्ण महोत्सव स्थगित । इसके पीछे की राजनीति एकदम रंगमंच पर थी, भले कोई मुँह खोल बोले या न

बोले ।

लेकिन इस नहीं बोलने का ही एक दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम है—महामहिम राष्ट्रपति का विक्रमशील बौद्धविहार में आगमन का स्थगन । अब कौन इसके पीछे जाए कि इसके पीछे किसकी क्या सुनीति है ? कूटनीति है ? हमारे विधायक से मंत्री कारण जानना चाहते हैं और जो उत्तर मिलते हैं, वे आसानी से स्वीकारने योग्य नहीं । अंगप्रदेश में आज की तिथि में जो शांति और सुरक्षा है, उसे देखते हुए सुरक्षा के अभाव को राष्ट्रपति के आगमन में बाधा बताना गले नहीं उतरता। ठीक ही लोगों की शंका है कि जहाँ मुख्यमंत्री नीतीश कुमार पर रोड़े बरसते हों, वहाँ राष्ट्रपति जा सकती हैं, तो विक्रमशील बौद्ध महाविहार क्यों नहीं, जहाँ के लाखों अंगवासी उन्हें महायानियों की भूमि पर देखने को लालायित थे । दिल्ली को शायद इसकी जानकारी न हो कि अपने देश के सर्वोच्च शासन के प्रतीक को देखने के लिए, सम्मान देने के लिए यह अंगप्रदेश किस तरह अपने सीने को खोल देता रहा है । भले ही इसकी आकांक्षाएं बराबर टूटी-फूटी ही रहीं—इसकी सड़कों की तरह ।

यह जानकर बेहद सुख मिला कि नालन्दा विश्वविद्यालय में विज्ञान प्रावैधिकी पार्क, शांति पार्क और संस्कृति पार्क होंगे और इस विश्वविद्यालय के लिए बिहार के मुख्यमंत्री अस्सी करोड़ रूपये खर्च करेंगे । लेकिन इसका कोई कारण नहीं दिखता कि नालन्दा विश्वविद्यालय से भी अधिक प्राचीन और अधिक विकसित विक्रमशील विश्वविद्यालय को क्यों उपेक्षित किया जाय । हम अपनी बातें चाहें जितनी भी ऊँची कर कहें, लेकिन इतिहास से निकली हुई आवाजों को दबाना दुष्कर होता है और यही कारण है कि न तो कर्ण और सिद्धों की काव्य भाषा अंगिका मरी और न ही बिहुला की गाथा की मंजूषा कला । दोनों अपने अंग सपूतों के सहयोग से अपने पाँवों पर चलकर दिल्ली की सरहदों में हैं । और अगर विक्रमशील विश्वविद्यालय ने पूरे विश्व को शिक्षा से मंडित किया है, तो यह पूरे विश्व में फिर से अलंकृत होगा, क्योंकि अंगप्रदेश अपने अतीत को खोना नहीं चाहता, कारण कि इसे भविष्य के विकास का शिखर भी देखना है । यह जरूरी भी है ।

अंगवासियों को भूलना नहीं चाहिए कि चौरासी सिद्धों में अधिकांश महान सिद्धों की जन्मभूमि और कर्मभूमि यही अंगप्रदेश और विक्रमशील बौद्ध महाविहार रहा है । यह भी नहीं भूलना चाहिए कि दीपंकर श्रीज्ञान ही देश से बाहर ज्ञानदान में नहीं लगे रहे, बल्कि शाक्य श्रीभद्र, जो विक्रमशिला महाविहार के प्रधान नायक ही नहीं, मगध नरेश के भी गुरु थे, वह भी विक्रमशिला के ध्वस्त

होने पर पहले बंगाल, फिर नेपाल और फिर तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रचार करते रहे । बात शाक्य श्रीभद्र की ही नहीं है, बैद्यनाथधाम (संताल परगना) में जन्मे आचार्य अभयाकर गुप्त भी सिर्फ विक्रमशिला महाविहार के ही महापंडित नहीं थे, नालन्दा में भी उनका वही सम्मान था । अभयाकर गुप्त मगधेश्वर रामपाल के भी गुरु थे और तब, नालन्दा विश्वविद्यालय को विश्व के मानचित्र पर लाने के क्रम में विक्रमशिला विश्वविद्यालय की उपेक्षा किस नीतिशास्त्र के सहारे न्यायोचित ठहराया जा सकेगा ?

यह ठीक है कि विक्रमशिला को चीनी प्रांत संसई के सिस्टर टाउन होने का आश्वासन मिला है, लेकिन उसका क्या हो रहा है, जिसके अनुसार बिहार की सरकार ने इसे बौद्ध सर्किट से जोड़ने की बात कही थी, और जिस विक्रमशिला बौद्ध विहार की हालत देख कर बिहार के राज्यपाल आर. एस. गवई ने ११ अप्रैल २००७ को कहा था कि नालन्दा की तुलना में विक्रमशिला की उपेक्षा हुई है । सारी बातें अखबारों में दर्ज हैं । सिर्फ राज्यपाल ने ही नहीं, लोकसभा में आम बजट (२००६-७) पर चर्चा में भाग लेते हुए कांग्रेस सांसद राहुल गांधी ने कहा था विक्रमशिला और नालन्दा विश्वविद्यालय अपने समय के कैम्ब्रिज और हावर्ड विश्वविद्यालयों से कम नहीं थे । सवाल यह है कि राहुल गांधी की भाषा में अंग प्रदेश के कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय का जीर्णोद्धार करने की बातें प्रदेश और देश की सरकारें सोच भी रही हैं क्या ? उपेक्षाएँ एक हद तक ही सहनीय होती हैं । कुछ दिनों पूर्व संथाल परगना के पहाड़ियों ने अलग अंगप्रदेश राज्य की मांग की थी। इसे हम प्रान्तिक उपराष्ट्रीयता नहीं कह सकते, यह तो आजादी के बाद से अंग प्रदेश की चरणबद्ध उपेक्षाओं के विरुद्ध आक्रोश का ही विस्फोट है ।

(हिन्दुस्तान : २१ फरवरी २००८)

बारह बरस में बारह कोस चली थी बरप्पा की रानी लचिका देवी

अंगप्रदेश लोरिक, सलेस, विसुरौत, गोपीचन्द, नटुआ दयाल और चूहड़मल जैसे वीर नायकों की ही भूमि नहीं रहा है और न अंग्रेजी राज के सूर्य के लिए प्रलय के अन्धकार की तरह तिलका मांझी की भूमि, बल्कि यह प्रदेश तो बिहुला, विशाखा, चन्दनबाला, सामा और अंग्रेजी सल्तनत की चूल हिला देनेवाली राजमहल की रानी सर्वेश्वरी देवी की भी भूमि है ।

अंगप्रदेश के संताल परगना में ही एक थी, लचिका रानी । यह लोकगाथा की कोई काल्पनिक रानी नहीं थी । गोड्डा जिले के वरप्पा राज की रानी थी । बात है अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी की । राजमहल जिले में राजा प्रीतम सिंह के किले का ढूह रानी लचिका के जीवन की अनलिखी कथा को कहने के लिए जैसे आज भी जैसे बेचैन है ।

अपूर्व रूपवती थी राजा प्रीतम सिंह की पटरानी, लचिका । दूर-दूर तक रूप की कथा फैली थी । लचिका जब माँ बनी तो राजा की खुशी की कोई सीमा न रही । अपार धन-दौलत राजकर्मचारियों और प्रजाओं के बीच बाँटा । लेकिन दुर्भाग्य भी पीछे-पीछे लगा ही हुआ था । उसी राज में कभी लखीमापुर राज का राजा शिकार खेलने आया । तब लचिका रानी पहाड़ियों के बीच बने नौरंग सरोवर में अपनी सखियों के साथ स्नान करने आई थी । शिकारी राजा ने, जो सरोवर की छटा निहारने वहीं झुरमुट के नीचे आ खड़ा हुआ था, रानी को देखा ।

लोककथाओं की ऐसी कई रूपवती रानीयों-राजकुमारियों के बारे में राजा ने बहुत कहानियाँ सुनी थीं, लेकिन ऐसी रूपवती के बारे में नहीं । वह चित्त से चंचल हो उठा और उसी व्याकुल मन से राजमहल की ओर लौट पड़ा । कई रात सो न सका । आखिर में एक दिन मंत्रियों-सभासदों के बीच राजा ने अपना निर्णय रखा कि वरप्पा के राज पर आक्रमण होगा और तब तक हमारी सेना नहीं लौटेगी, जब तक प्रीतम की रानी लचिका लखिमापुर की शोभा न बने ।

लेकिन वरप्पा राज पर आक्रमण की बात क्या सहज थी ? बिना किसी व्यूह के तो प्रीतम सिंह को परास्त करना एकदम दुरूह कार्य था । सभासद चिन्तित हो उठे । बात राजमहल के भीतरी कक्ष तक गई । एक कूटनीतिज्ञ सेविका थी राजमहल में—मंथरा से कम नहीं । राजा से कहा, ''मैं मौसी बनकर लचिका के पास जाऊँगी, और जब दूत से संदेश भिजवाऊँ, तब लखिमापुर राज

की सेना वरप्पा को तुरत घेर ले ।'' वही हुआ । दूत का संदेश मिलते ही लखिमापुर राज की सेना वरप्पा राज पर टूट पड़ी । तब लचिका रानी अपने पीछे खड़े खामोश दुर्भाग्य की छाया भी नहीं देख सकी थी । भीषण युद्ध हुआ । लखिमापुर राज की सुनियोजित सेना के समक्ष वरप्पा राज की सेना उखड़ती चली गई । अपने प्राणों की आहूति देने के बाद भी वरप्पा के राजा लचिका रानी को बन्दी होने से न बचा सके ।

आक्रमणकारी सेना लचिका को लेकर अपने राज की ओर चल पड़ी । पीछे छूट गया उजड़ा हुआ वरप्पा राज का किला और किले में रानी लचिका का नवजात शिशु, जिसे रानी की माँ ने बचा लिया था ।

आक्रमणकारी राजा ने जब सुना कि लचिका रानी को कैदकर लाया जा रहा है, तो उसकी खुशी का ठिकाना न रहा । घोड़े पर सवार हो वह चौरंगी चौक पहुँच गया और रानी का व्याकुलता में प्रतीक्षा करने लगा । रानी की डोली चौरंगी चौक पर पहुँची, तो रानी ने डोली की जगह राजमहल तक पैदल ही जाने का संदेश राजा के समक्ष रखा और यह भी कहा कि वह चौरंगी चौक से ही दीन-दुखियों को धन-आभूषण का दान करती जायेगी । खुशी से पागल राजा ने इसे, तुरत स्वीकार कर लिया । चौक से राजमहल तक जानेवाले मार्ग के दोनों ओर पर्दे की दीवारें लगाई गई । राजकोष का सारा धन दान के लिए खोल दिया गया । रानी लचिका दीन-दुखियों को सोने-चाँदी का दान करती धीरे-धीरे पैदल ही राजमहल की ओर बढ़ चली ।

रानी के मन में चिन्ताओं का तूफान उठ रहा था । रक्तरंजित वरप्पा का दृश्य आँखों से नहीं हटता और न ही पीछे माँ की गोद में छोड़ आई अपने नवजात शिशु को भूल पा रही थी । रानी ने जान लिया है कि चौरंगी चौक से लखिमापुर राज बारह कोस पर है । उसके पाँवों की गति और भी धीमी हो गई थी । एक कोस एक वर्ष में पूरा हो रहा था । राजा परेशान, लेकिन अधीरता को प्रकट नहीं होने देना चाहता था । रानी दो वर्ष में दो कोस आगे बढ़ी, फिर आठ वर्ष में आठ कोस । वह मन-ही-मन समय को जोड़ रही थी—अब उसका पुत्र आठ वर्ष का हो गया होगा । .....अब लचिका रानी लखिमापुर के राजमहल के द्वार पर पांचवे दिन ही पहुंचेगी । पांचवे दिन ही बारह वर्ष पूरे होंगे।

वरप्पा का राजकुमार बारह वर्ष का हो रहा था । राजकुमार का नाम है रणवीर । खेल-खेल में वह माता-पिता की कसमें खाता, तो उसके मित्र कहते कि माँ-बाप की कसमें क्या खाता है, तुम्हारा बाप तो युद्ध में मारा गया, और माँ को दूसरा राजा उठा ले गया है।

रम्मा खेले खेल में खाय छै कियरबा रे ना
रम्मा खैतें रहै बापों के कियरबा रे ना
रम्मा है सुनी बोलै एक ठो छौड़बा रे ना
रम्मा झूठे रे खाय छैं बापों के कियरबा रे ना
रम्मा कहिये नी मरलौ तारों बपबा रे ना
रम्मा वही नौरंग उपरे पोखरिया रे ना
रम्मा तोरों माय कें हरी लै गेलौ रजबा रे ना
रम्मा तहियो तोरा लागो नहीं लजबा रे ना

दुखित राजकुमार अपनी दादी से सारी बातें जानना चाहता है । वह सारी बातें जानता है, जिससे उसका खून उबल पड़ता है । क्षत्रिय का खून, बारह वर्ष में ही भीषण उबाल ले रहा है । वह सेनाओं को इकट्ठा करता है । लखिमापुर राज पर आक्रमण भी । भीषण युद्ध होता है, न जाने कितने सैनिकों के साथ लखिमापुर का राजा भी मारा जाता है । राजकुमार अपनी माँ लचिका रानी को ही लेकर बरप्पा राज नहीं लौटता, लखिमापुर राज की राजकुमारी हीरामंती को भी साथ लेकर लौटता है । बरप्पा राज का सौभाग्य लौट आया था।

लेकिन आज अंगिका भाषा की इस लोकगाथा का सौभाग्य बिखरा-बिखरा ही हुआ है । इस लोककथा को बचाने के लिए न तो बरप्पा के लोगों में ही उत्साह है और न झारखण्ड सरकार को ही चिन्ता । झारखण्ड राज्य का लगभग आधा भाग गंगालहरी (संताल परगना) है, जो अंगिका भाषा का क्षेत्र है, जो भाषा संतालियों की भी आम जनसम्पर्क भाषा है, और जिसकी उपेक्षा को लेकर महगामा गोड्डा के विधायक अशोक भगत नें झारखंड विधानसभा में अपना ठोस आधार रखा है, लेकिन सरकार बंगला और संताली को द्वितीय राजभाषा बनाने के लिए तो चिन्तित है, लेकिन अंगिका की उपेक्षा के प्रति चिंतित नहीं । २२ फरवरी के 'हिन्दुस्तान (संथाल परगना संस्करण) में झारखण्ड सरकार के कला, संस्कृति, खेलकूद एवं युवा कार्य विभाग की ओर से जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा की साहित्यिक प्रतियोगिता की सूचना प्रकाशित है, जिसमें संताली, उराँव, मुण्डारी, नगपुरिया, खोरटा, कुरमाली, हो, और खड़िया भाषाओं में उपन्यास, काव्य की पाण्डुलिपियाँ आमंत्रित की गई हैं, लेकिन अंगिका भाषा की नहीं । जबकि अंगिका भाषा पूरे संताल परगना (देवघर, दुमका, गोड्डा, पाकुड़, राजमहल) की भाषा है और यह भाषा झारखण्ड लोकसेवा आयोग की क्षेत्रीय भाषाओं में भी शामिल है । तब अंगिका भाषा की पांडुलिपियों को नहीं आमंत्रित करने का क्या अर्थ है । शीबू सोरेन जनजातीय कॉलेज, बोरियो के व्याख्याता एवं अंगिका

लोकसाहित्य के संकलनकर्त्ता प्रदीप प्रभात कहते है, ''यह अंगिका भाषा के साहित्य के साथ ही नहीं, पूरे संताल परगना की संस्कृति और साहित्य को उपेक्षित करने का सुनियोजित षडयंत्र है, ताकि संथाल परगना अपनी अभिव्यक्ति के माध्यम को भी नहीं बचा सके ।'' अगर यह है, तो यह अत्यन्त ही दुर्भाग्यपूर्ण है ।

(हिन्दुस्तान : १३ मार्च २००८)

अंगिका होली गीतों में रंगों का राग और रागों का रंग

कहाँ है धरती का वह भूखंड, जिस पर कभी वसन्त नहीं आता ? कौन से हैं वे लोग जिन्हें फागुन की हवाएँ छूकर उन्मादित नहीं कर देतीं ? मानव तो मानव है, पत्थरों-पहाड़ों पर भी उगे वृक्ष, इस फागुन में फूलों और फत्तों के रंग में नहाकर, जीवन का आदिम आनन्द विखेर देते हैं । फिर मनुष्य इससे वंचित रह जाए; यह तो संभव ही नहीं । फागुन में क्यों हो जाता है इतना मादक सारा परिवेश ? धरती और आकाश मिलनोत्कंठा के आवेग से उन्मादि-आन्दोलित ? अलग-अलग तर्क, अलग-अलग बातें । लेकिन पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी की बातें मन को ज्यादा छूती हैं, कि वसन्त में धरती सूर्य के बहुत निकट हो जाती है । प्रकृति-पुरुष की यह रागमय निकटता पृथ्वी पर पसरे जड़-चेतन में अगर रागमय आकर्षण को जन्म देती है, तो आश्चर्य ही क्या ?

फागुन में इसी आकर्षण के कारण प्रकृति के पोर-पोर से वसन्त फूट पड़ता है । कनेल, कचनार, कटसरैया, माधवी लताओं में ही फूलों का विकास प्रारम्भ नहीं हो जाता, केला, महुआ के वृक्ष ही नहीं, नारियल, ताड़, खजूर के वृक्ष भी फूलों से लदने लगते हैं । आम्रवृक्ष तो मंजरों के प्यार से दबे एकदम विनीत ही हो उठते हैं । कहाँ से उमड़ पड़तां है इस ऋतु में इतना-इतना हृदय का आनन्द कि कोयल ही पंचमराग में नहीं कूक उठती; हारिल, पपीहा, सुग्गा, मैना सब के सब उन्मादित और उन्मत्त और इससे कहीं बढ़-चढ़कर ग्राम युवती, ग्राम युवक, जो मन के उन्माद को रंगों के उत्सव में बहा कर मुक्त हो जाना चाहते हैं ।

अंगिका के होली गीतों में वसन्त के फाग का यह महारास अपनी भव्यता और दिव्यता में अभिव्यक्त है और ऐसे गीत में सबसे अधिक जोगीरा में। जोगीरा या जोगीड़ा नाम से विख्यात यह होली-गीत अपनी गायन-शैली और विषय को लेकर उन होली-गीतों से एकदम अलग है, जिन्हें अंगप्रदेश में फगुआ होली, घमार और चौताल कहते हैं । अगर गीतों के सभी प्रकार को सामने रखें, तो फगुआ में देशीपन (गँवई शैली) बहुत अधिक मिलती है और ऐसे गीत समाज-टोले के बीच ही गाये जाते हैं, लेकिन जोगीरा की स्थिति भिन्न है । अपनी बातों में कहीं-कहीं अत्यधिक अश्लीलता के कारण बस्ती-समाज-टोले से दूर एकान्त स्थान में ही जोगीरा का रास रचता है । जोगीरा भी समूह-गीत ही है, लेकिन इसमें एक मुख्य गायक होता है, बाकी लोग 'कहो जी सारा रा रा रा रा' की आवृत्ति

में साथ देते हैं या फिर मुख्य गायक की कही बातों में 'हाँ जी', 'सही छै' कह कर समर्थन करते है । अंग महाजनपद में जो जोगीरा-गीत मिलते हैं, उनमें छंदों की विविधता और उन्हीं के अनुसार एक ही गीत में लय-ताल के अन्तर से अदभुत पेशलता पाई जाती है :

पहिलें सुमरौं सरस्वती दूजे दुरगा माय
जंगल में जोगीरा गावौं कंठ विराजै आय
फिर बोल बोल कि सा रा रा रा
गोरे आया इंग्लैंड से, बोले इंगलिश बोल
गाँधी जी ने झापड़ मारा, भागा नुंगी खोल
फिर बोल बोल कि सा रा रा रा
हिरिया के बेटी किरिया बैठल दुकान पर
गला में शोभै सिकरी, मोती छै कान पर
एक नजर चल गेलै पनमा दुकान पर
कत्तें सिनी कट गेलै किरिया के जान पर
फिर बोल बोल कि सा रा रा रा ।

संभव है जोगीरा गीतों का निर्माण काल नाथपंथ के विकास के साथ हुआ हो । इतिहास साक्षी है सिद्धों का तंत्रयान, मंत्रयान ही वज्रयान से निकलते हुए नाथपंथ तक आया । ये नाथ ही योगी भी कहाते थे, जोगीरा में नाथों, योगियों का उल्लेख उन्ही परवर्त्ती सिद्ध नाथों की ओर संकेत है । इस तरह यह कहा जा सकता है कि अंग महाजनपद में जोगीरा का जन्म दसवीं शताब्दी के आरम्भ या इसके आस-पास हो चला था ।

जोगीरा से अलग अंगिका भाषा के होरी गीतों की यह विशेष उल्लेखनीय बात है कि यहाँ अंग प्रदेश का देशकाल इनकी शिराओं में रक्त की तरह प्रवाहित होते मिलता है । साहित्यकार जयप्रकाश गुप्त ने मुझे ऐसे कई गीत सुनाये थे, जो न केवल अपनी भाषा के कारण अंग प्रदेश की मिट्टी से जन्मे होने की पहचान देते हैं, बल्कि इसमें आए स्थान की संज्ञाएँ भी इन्हें इस प्रदेश के हवा-पानी से जोड़ती हैं :

रगड़ पिसो रगड़ पिसो हरदिया भौजी रगड़ पिसो
हो, कहाँ केरों सिल-सिलोटिया कहाँ केरों हरदिया
कहाँ केरों पातर तिरिया पिसहौं नै जानै हरदिया
भौजैया रगड़ पिसो
भागलपुर के सिल-सिलोटी सूजागंज के हरदिया

मुंगेरी के पातर तिरिया पिसहौ नै जानै हरदिया
भौजेया रगड़ पिसो

सिर्फ स्थान का ही नहीं, अंग प्रदेश के तीर्थों, नदियों, वनों का भी उल्लेख कई गीतों में आता-जाता है,

जेठोरनाथ महाराज हो शिव हो भले विराजे चानन में

आगे जिन पंक्तियों को उद्धृत किया जा रहा है, उसके पहले कुछ विद्वानों के वक्तव्य को सामने रखना ठीक होगा । पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि नाथ-साहित्य में आये सिंहल की तलाश आधुनिक सिलोन में नहीं करके हिमालय की तलहटी में करना ठीक होगा और प्रभात रंजन सरकार ने लिखा है कि सिंह रक्तमृतिका के भूखंड में कहीं बाहर से नहीं आया, यह इसी भूखंड की सन्तान है, रक्तमृतिका का क्षेत्र यानी अंगमहाजनपद के उत्तरी क्षेत्र से लेकर दक्षिण में दक्षिण पठार और पूरब में पुरुलिया, मालदा तक का फैला हुआ क्षेत्र । आज भी कहलगांव में सिंहल वैता नाम से एक स्थान है । संभव है, कभी प्राचीन समय में यहाँ सघन वन रहा हो और सिंहों का अभ्यारण्य । जो हो, रक्तमृतिका के अंगप्रदेश के लोकगीतों में यहाँ के वन्य जीव जन्तु तक रसे-बसे हैं। होली गीतों में तो और भी :

फूलों से, फूलों से, हे देवी भवानी फूलों से ।
दखिन दिशा नैं जइयों बलेमुआ, दखिन दिशा बड़ भारी ।
बाघ-सींघ तोरा खय जैथौं, हम घनि रहबों दुखारी
भवानी फूलों से ।

दक्षिण दिशा, यहाँ अंग प्रदेश के दक्षिणी पठारी भूखंड की ओर संकेत है । लेकिन ऐसा समझना तो भूल ही होगा कि अंगिका के होरी गीतों में क्षेत्रीय रंगों के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं । सच तो यह है कि इस भाषा के होली गीत अपनी समन्वित भारतीय संस्कृति के कारण ही लोकरंजक और परिपक्व हुए हैं । भारतीय संस्कृति को प्रभावित करने वाले दो महापुरुषों, राम और कृष्ण के लीला स्पर्श से भींगे ये गीत किस हृदय को नहीं छूते हैं :

कौनी वन कान्हा गैया चराबै कौनी वन हो,
कहाँ में कान्हा गौआ चराबै, कहाँ में बिठाबै कौनी वन हो
मधेपुर में कान्हा गौआ चराबै, यमुना पानी पिलाबै
कुंज गली में धुरा उड़ाबै, गोखुला में गौआ बैठावै
हम्मू जैबै हो रघुवर संग वन लक्ष्मण हम्मू जैबै हो
संग-संग जैबै चरण दबैबै शीतल बिनिया डुलैबै

लक्ष्मण हम्मू जैबै ।

एक बात और कि अंगिका के होरी गीतों में परम्परा का अनुसरण बड़ी शालीनता और मर्यादा के साथ है । होली है, तो क्या हुआ, पुरुषोत्तम राम को उसी रूप में यहाँ गाया जाता है, जैसा परम्परा से प्राप्त है :

हरि मारही मिरगा राम जंगल बीच शोर भये
कपट भेषधारी मिरगा वन आये सिय-हिय हो कर भागे
लिए धनुष वन चले रघुनंदन मिरगा मारन जाये
जंगल बीच शोर भये

और जब कृष्ण का वर्णन आता है, तब अंगिका होरी का स्वर ही बदल जाता है :

श्याम बजाबै बीन एक दिन श्यामन हो
कातिक उतरे, अगहन आए, आ गये पूस महीना
माघ मास बलम नहीं आए फागुन मस्त महीना
श्यामन एक दिन हो ।

तब इन गीतों की भाषा सिर्फ अंगिका नहीं होती, खड़ी बोली भी होती है । अंगिका के पारम्परिक होली गीतों में यह जो समन्वित भारतीय संस्कृति की झलक है, उसका महत्व आज घृणा पर आधारित क्षेत्रवाद के संदर्भ में और भी बढ़ जाता है, आज जबकि सूर्यपूजा छठ का ही विरोध महाराष्ट्र नव-निर्माण सेना कर रही हो, ऐसे में अंगिका के ये होली गीत क्षुद्र राजनीति के कारण दिल और दिमाग से थके आज के भारतीय मन को दिक्भ्रमित होने से भी बचाने वाला होगा । गुलाबी और लाल रंगों में रंगे इन होली गीतों का वह हरदीवाला रंग है, जो सम्पूर्ण व्यक्तित्व को निर्विकार करता है ।

कोई शक नहीं कि इन रंगों में जोगीरा का रंग सबसे अधिक गाढ़ा यानी जंगाली रंग की तरह है । इसमें मनुष्य का आदिम काम-भाव जितना खुल कर आता है, उतना ही यह आधुनिक व्यंग्य काव्य की शक्ति का वाहक भी है । जोगीरा के कई रागों में व्यंग्य का राग तेज और झांसवाला है । राज नेताओं के विकृत चाल-चलन हास्य की चासनी में यहाँ इस तरह है कि यह सबसे अधिक आधुनिक दिखता है, और इसी कारण सबसे अधिक लोकप्रिय भी । जोगीरा के इस नये राग से इसकी अश्लीलता भी कम हुई है, और चौपाल की जगह, द्वार में सुनने लायक भी बन गया है ।

चौक, चौराहे और चौपाल के इन रागों के रंग के अतिरिक्त अंगिका के होरी गीतों में एक राग-रंग और भी है, जो मधुर हास-परिहास का है, दिलों को

फूलों की पंखुड़ियों से छूनेवाला, कर्णेन्द्रिय को प्रभात-समीर-सा स्पर्श करता । और वह है फागुन में बौराई ननदों-भौजाइयों का गुलाली रंग से मताया सरस राग :

सावन भदवा जेना ई कदबा उड़ै हे ननरदो
वही में घोलटैबौं तोरॉ भैया सुनॉ हे ननदो ।

(हिन्दुस्तान : २० मार्च २००८)

कहो जी सा रा रा रा

शहर, साहित्यकार, स्वास्थ्य और योग

बीच खलीफाबाग में कवि बुझौअल जी मिल गये । वसन्त के आने की भनक भले मौसम को न लगी हो, लेकिन बुझौअल जी के दिमाग में घुसकर न जाने कितनी देर से चैता बोलडान्स कर रहा था । मुझे देखते ही कहा, ''आज पूरे 'रम' की चौवन्नी तोड़ आया हूँ ।'' ऐसा कहने में उनके चेहरे पर ऐसा कुछ गौरव दिखा था, जैसे वह अपने दुश्मन श्रोता का सर तोड़ कर आ रहे हों । कुछ हो, मैंने पूछा, ''लेकिन आप तो छः दिन से योग शिविर में..... ।'' मेरा इतना बोलना था कि उनकी आँखें भड़के भैंसे की तरह मुझे देखने लगीं, ''तो क्या समझते हो, मैं अकेले सैंडिस कम्पाउन्ड में नथुना फुलाता-पचकाता रहूँ, टटिया-फटिया उठ जाने के बाद भी । छः दिन हो गया, हो गया, जितनी प्राण वायु को भीतर जाना था, जा चुकी, अब जिसे भीतर जाना है, वही जायेगा ।'' और गुस्से से मुझे देखते वह आगे बढ़ गये ।

मैं उदास-उदास सोचने लगा । ताज्जुब है—यह अनहोनी कैसे ? पिछले दिनों की ही तो बात है योग-शिविर को लगे । जैसे इमरजेन्सी में अच्छे-अच्छे नेता भूमिगत हो जाते हैं; कोतवाली की गाड़ी देख अपराधी अन्तरध्यान हो जाता है और परीक्षा में पुर्जा पहुँचाने गार्जन लेउड़ौन देते हैं; जैसे पार्टी-आलाकमान के सामने नौसिखुए नेता की गति होती है; जैसे चुनाव के वक्त लाभकारी चुनावी घोषणाओं से विपक्षी नेताओं की हालत होती है; जैसे वित्तरहित कॉलेज में शिक्षकों-कर्मचारियों की मुर्दगी किसी नेता के आश्वासन से उड़ जाती है, जैसे किसी बड़े नेता के आने पर शहर और नाले की गदगी गायब हो जाती है; लोग कहते हैं, शहर में बाबा रामदेव के आते ही टांसिल, टायफाइड, थायराइड, मधुमेह, पित्त, वात, गठिया, बवासीर स्पाण्डोलाइटिस, अस्थमा, मूत्र-विकार, यौन रोग, हृदय रोग, उच्च रक्तचाप, निम्न रक्तचाप, अनिद्रा सब उड़न छू हो गये । अनुलोम-विलोम की धौकनी चली नहीं कि फेफड़े का रोग, कमर का दर्द, मेरूदंड की पीड़ा सब दूर हो गई ।

लेकिन आश्चर्य है कि शहर के साहित्यकारों का रोग मिली-जुली सरकार की तरह स्थिर ही है । गहरे अनुसंधान-किया तो पता चला कि साहित्यकारों के स्वास्थ्य के लिए न तो आसन बने हैं, न इसके लिए रसायन और न राशिफल । लेकिन आसन बनाना बिना सिंहासन के संभव नहीं, इसी से पातंजलि के प्रचलित

योग से ही साहित्यकारों को लाभ पहुँचाने की तात्कालिक योजना है—यानी पुराने आसनों से नये लाभ । यहाँ यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि साहित्यकारों से तात्पर्य यहाँ पहले कवियों से है । सभी कवि साहित्यकारों के लिए कुछ उपयोगी आसन और उनसे लाभ प्रस्तुत हैं :

चक्रासन—कई चक्रों तक काव्यपाठ करने की इच्छा में लाभ ।

गर्भासन—एक घंटे में पाँच रचनाओं के गर्भधारण में लाभदायक ।

ताड़ासन—छोटी कविता को रेघा कर ताड़ की तरह करने में फायदेमन्द ।

त्रिकोनासन—गुटों पर तीनों कोणों से बचाव में फलप्रद ।

भुजंगासन—भुजा के जोर पर अकविता को भी कविता मनवा लेने की ताकत में लाभदायक ।

मकरासन—कविता लिखने से पहले पुरस्कार पाने की इच्छा-शक्ति में मकरध्वज-सा लाभ ।

मर्कटासन—मरने के बाद भी काव्य पाठ की कामना को बनाए रखने में लाभप्रद।

शवासन—बिना पारिश्रमिक लिए मंच पर मुर्दा की तरह सप्ताह भर पड़े रहने में सहायक ।

शीर्षासन—बेसिर-पैर की कविता को ताल-लय में पाठ करने की क्षमता में वृद्धि।

सिंहासन—उबे श्रोताओं को सिंह की तरह दबोचे रखने में गुणकारी ।

हलासन—हर तरह के मंच और आयोजक के साथ लेन-देन के संकट को हल करने में फलप्रद ।

सावधानी—आलोचना, नाटक, निबंध की जुगाली करनेवाले साहित्यकार इन आसनों को न करें । इसमें उनमें बड़बोलेपन की मिर्गी हो सकती है । स्त्री लेखकों के लिए तो यह पूर्णतः वर्जित है । ये आसन सिर्फ कवियों के लिए लाभकारी हैं। पुरस्कार-सम्मान के इच्छा से रहित कवि भी इन आसनों को न करें ।

चूँकि आसन कठिन क्रिया है, जैसे गजल में फायलातुन, मफायलातुन या वार्णिक छंद में रगण, मगन, तगन जोड़ना और इसके फायदे भी विलम्ब से होते हैं, इसी से साहित्यकार को आसन के साथ-साथ स्वास्थ्य-लाभ के लिए कुछ रसायन भी लेते रहना चाहिए । अनुभूत रसायन ये हैं :

१. च्यवनप्राश हरहरी : नियमित सेवन से हजारो श्रोताओं को च्यवनप्राश की तरह चाट जाने की शक्ति में असीम वृद्धि ।

२. शिलाजीट गुटका : अज्ञात कवियों की रचनाएँ गटकने की बेशर्मी में वृद्धि ।

३. भृंगराज रसायनः समय-कुसमय का बिना ख्याल किए भौंरे की तरह भनभनाते

रहने में लाभकारी ।

४. कब्जखोर बटी : याद कर-कर के रचना पढ़ने की आदत का नाश होता है ।

५. कासामृत चूर्ण : लाख कोसने के बावजूद मंच पर डटे रहने की क्षमता में अभूतपूर्व लाभदायक ।

६. अश्वगंधा रसायन : हिनहिना कर काव्य-पाठ में लाभकारी ।

जिस तरह खसरा, खाँसी, पोलियो आदि से बचाव के लिए एक टीके से काम नहीं चलता, उसी प्रकार कवियों को आसन, रसायन के अतिरिक्त अपनी-अपनी राशियों भी ख्याल करते रहना चाहिए । आसन की सफलता में राशि का प्रभाव भारी होता है । राशि के अनुकूल आसन नीचे दिए जाते हैं :

मेष : छट्टी-श्राद्ध के अवसर पर आयोजित कवि सम्मेलनों में भाग लेने का योग। मण्डुकासन का नियमित अभ्यास लाभकारी ।

वृष : कई संस्थाओं से साहित्यसेवा-प्रमाणपत्र मिलने के संदेश संभव । धनुरासन का अभ्यास शुभकारी ।

मिथुन : कवयित्री-गोष्ठी में मंच-संचालन की संभावना । उष्ट्रासन करते रहिए ।

कर्क : आकाशवाणी के केन्द्र निदेशक के अनुकूल बने रहने का योग । खुशी से पेट फट सकता है । उपवास के साथ भ्रामरी का अभ्यास लाभकारी

सिंह : कविता खारिज होने की आशंका । आलोचकों से व्यर्थ टकराने से बचें । पूरक-रेचक के साथ ओम का अजपा जाप खाने वक्त करें।

कन्या : रोज एक कवि-गोष्ठी का योग । विदेशी कवि सें भेंट की संभावना । कपालभाति का अभ्यास करते रहें ।

तुला : आमंत्रण के अकाल की आशंका । भस्त्रिका का अभ्यास सर्वगुणकारी । वृश्चिक : पारिश्रमिक को लेकर मंच में फूट की भारी संभावना । महाबन्ध का दिन में पाँच बार अभ्यास जरूरी ।

धनु : वाहवाही और यात्रा-भत्ता का योग । गृहणियों का कोप संभव । अनुलोम-विलोम प्राणायाम करते रहें ।

मकर : कवितापाठ के दौरान श्रोताओं का गुस्सा भड़क सकता है । ऐसे में मंच से चुपचाप ससर जाने के लिए सर्पासन का अभ्यास मध्य रात्रि में करें ।

कुम्भ : मंच-संचालन को लेकर कवि-सम्मेलन में धक्का-मुक्की का ग्रह प्रबल । नौकासन से लाभ होगा ।

मीन : सम्मेलन के आयोजक से सावधान रहें । सम्मेलन-समाप्ति के बाद भूखे और पैदल आने का कुयोग । उड्डीयान बन्ध का सुबह-शाम-अभ्यास फलप्रद ।

नोट—सभी राशि के कवियों के लिए कालिख शुभ है । सिर्फ रविवार को छोड़कर शेष सभी दिन रत्ती भर कालिख मुँह पर पोकर घर से बाहर निकलें । गरुड़ासन पूरे साल के लिए हितकारी हैं, इसी से रास्ते में चलते हुए हर दस कदम पर गरुड़ासन करते चलें ।

('हिन्दुस्तान' भागलपुर, २७ मार्च २००८)

....यानी एक हजार ४५४ कि. हर्ट्ज पर आकाशवाणी का यह भागलपुर केन्द्र है

फागुन अपने सम्पूर्ण वैभव को समेट कर संन्यासी-सा लौट जाने को तैयार हो गया था, यह बात २१ मार्च की है, यानी फागुन की पूर्णिमा और पूर्णिमा की उसी रात में भागलपुर आकाशवाणी से एक रेडियो रूपक प्रसारित हो रहा था। शीर्षक था—'फगुआ में महुआ मदन रस टपके ।' गीत, संवाद, और गायन सब कुछ था कवयित्री सान्त्वना साह का । फागुन के इस रूपक को सचमुच में बहुत रसमय बना दिया था, डॉ विजय मिश्र, कुसुमाकर दुबे और चन्द्रकान्त पाठक की आवाज ने । अंग महाजनपद की लोकसंस्कृति तो इस रूपक की पंक्ति-पंक्ति से उपटती रही । सोचता हूँ, आखिर ऐसे रूपकों, नाटकों का प्रसारण इस केन्द्र से सहसा रुक क्यों गया ? क्यों अब आमोद कुमार मिश्र, सत्यनारायण, नरेश जनप्रिय, डॉ. आभा पूर्वे के अंगिका नाटक सुने नहीं जाते हैं । आखिर इन नाटकों की राशि कहाँ जा रही है ? और ऐसे नाटकों के प्रसारण के रुकने का अर्थ है कि डॉ. श्यामलाल आनन्द, संगीता घोष, डॉ. विमल सिंह, अरुण कुमार झा, शिवनाथ सिंह की जीवन्त भूमिकाओं से ही नहीं, बल्कि अशोक सिंह, सुमनलता झा, नेहा, अंजना कुमारी, सरिता पांडेय के साथ-साथ घनश्याम ठाकुर, दिलीप झा, सुशांता सिन्हा, प्रवीण मिश्र जैसे अनेक रेडियो नाटक कलाकारों और आकाशवाणी के संवेदनशील श्रोताओं को संवेदनहीन बनाते जाने की भूल ।

आखिर आकाशवाणी का भागलपुर केन्द्र सूजागंज की कोई दुकान तो नहीं, कि वह दिनभर वस्तुओं का विज्ञापन करे ।

एक दिन अचानक प्रो. शशिभूषण खड़गाहा मिल गये। बातों ही बातों में आकाशवाणी भागलपुर तक की बातें आ गईं तो मेरे पूछने पर कि आकाशवाणी का कैसा कार्यक्रम चल रहा है, उन्होंने एक पंक्ति में कहा 'वो दिन हवा हुए, जब पसीना गुलाब था ।'

आखिर वे दिन हवा क्यों हो गये ? गीतकार अश्विनी से पूछा तो उन्होंने कहा, 'तब आकाशवाणी भागलपुर से जिन कवियों के लिए अनुबंध जारी होते थे, उसमें इसका ख्याल रखा जाता था कि कवि रूप में उनकी वास्तविक प्रसिद्धि कैसी है । निकटता तो तब भी काम करती थी, लेकिन सही रचनाकार की उपेक्षा भी नहीं ।' तो क्या अब वास्तविक रचनाकारों की उपेक्षा बढ़ गई है, और अपेक्षा निकटता पर भेंट चढ़ गई है ?

लेकिन बात यहाँ है—आकाशवाणी भागलपुर की ओर से इस महाजनपद की अंग-संस्कृति की उपेक्षा । वर्षों से अंग प्रदेश के लोकगीतों की जो उपेक्षाएँ हो रही हैं, उसे तो यह केन्द्र भी समझ रहा होगा । इसके पीछे के कारणों को बताना, खोजना व्यर्थ होगा । यह सही है जबसे इस केन्द्र में डॉ. शिवमंगल सिंह 'मानव' आए हैं, तब से केन्द्र से प्रसारित कविताओं का स्वर कुछ ज्यादा तेज हुआ है, कवियों का सम्मान भी बढ़ा है, यह 'मानव' जी के संवेदनशील कवि होने के नाते स्वाभाविक भी है। लेकिन कविताओं से ही तो केन्द्र का लक्ष्य पूरा नहीं हो जाता।

इस बात को न तो कार्यक्रम से जुड़े अधिकारियों को भूलना चाहिए और न केन्द्र निदेशक को कि भागलपुर आकाशवाणी की स्थापना पुराने भागलपुर की सीमा को ध्यान में रखकर किया गया है । अखंड बिहार के चार जिलों के लिए चार केन्द्रों की नींव पड़ी । इसके पीछे की मुख्य बात सिर्फ यही हो सकती है कि उन जिलों की आकाशवाणी उन जिलों की संस्कृति को अभिव्यक्त करे । लेकिन भागलपुर आकाशवाणी द्वारा पिछले कुछ वर्षों से जिस तरह अंगिका और अंग संस्कृति के प्रति अभद्र व्यवहार किया जा रहा है, उसे किसी भी तरह मानवीय या लोकहित के अनुकूल नहीं कहा जा सकता । बातचीत में कथाकार और भागलपुर आकाशवाणी की कार्यक्रम सलाहकार समिति के सदस्य रंजन कहते हैं "मैंने केन्द्रनिदेशक से आग्रह किया है कि वह यहाँ की लोकगाथाओं को प्रसारित करने की व्यवस्था करें । यह बहुत जरूरी है, क्योंकि सरकार और सहयोग की उपेक्षाओं के कारण अंगप्रदेश की लोकसंस्कृति समाप्त होने के कगार पर पहुँच गई है । अंगप्रदेश लोकगाथाओं का विशाल मंजूषा है, जिसमें कमला मैया, सलेस, बिहुला, गोपीचंद, लचिका रानी, हिरनी-बिरनी, लोरिक, रानी सुरंगा, बृजाभार, विसुरौत, जोति तपस्या, चौहरमल जैसे प्रबन्धात्मक लोकगाथाओं के रत्न भरे हैं ।"

पता नहीं कथाकार रंजन की बातों को केन्द्रनिदेशक ने कितनी गहराई से ग्रहण किया है और अब तक इस दिशा में कुछ पहल हुई भी है या नहीं ? क्योंकि जो लोकगीत प्रसारित हो रहे हैं, उससे स्थिति की भयावहता को समझा जा सकता है । यह ठीक है कि जरूरतें लोकगीत की जमीन पर नये गीतों को रचती हैं, जो कालक्रम में लोकगीत बन भी जाते हैं, लेकिन यह काम भी सधे रचनाकार की सृजनशीलता से ही संभव है, नौसिखुए कलमबाज के बूते की यह बात नहीं होती । जरूरी तो यही है कि भागलपुर आकाशवाणी नये अनगढ़, अश्लील लोकगीतों को प्रसारित करने की जगह रंजन जी की चिन्ताओं को समझे और अंगिका लोकगाथाओं को संकलित करे । यह अगर लोकगीत-गायक को अनुबंधित करके संभव नहीं है, तो गाँवों में जाकर ही करे । लेकिन करना तो

होगा ही, सिर्फ सहेली या मिथुन कंडोम के प्रचार से इस केन्द्र को गरिमा मिलने से रही । मैंने इसी बात को लेकर जब डॉ. शिवमंगल सिंह 'मानव' से बातचीत की तो उन्होंने मुझे बताया कि अंगिका भाषा साहित्य के प्रति मेरी चिन्ता भी वैसी ही है, जैसे किसी भी अंगिकाभाषी की, इसी कारण मैंने खेती-गृहस्थी से लेकर युववाणी तक में अंगिका के साहित्य को शामिल करने की अनुमति दे दी है । और भी बहुत कुछ करने की इच्छा है ।

इसमें कोई विवाद नहीं हो सकता, कि केन्द्रनिदेशक डॉ. 'मानव' ने परिस्थिति को बदलने की सार्थक कोशिश की है, और इसी कारण युववाणी से लेकर हिन्दी वार्ता तक में एक बदलाव भी दिखता है । कुसुमाकर दुबे, सान्त्वना साह, डॉ. विजय मिश्र ने अपनी प्रतिभा और कुशलता से कार्यक्रम को नयी ताजगी देने का प्रयास भी किया है, जिसके कारण ही अंगिका के फिल्म अभिनेता कुणाल बैकुठ सिंह तथा छैलाबिहारी से जीवन्त भेंटवार्ता भी सुनने को मिलीं है। लेकिन, कुछ कविताओं, भेंटवार्ताओं के प्रसारित हो जाने से ही तो सब कुछ नहीं हो जाता।

आकाशवाणी का भागलपुर केन्द्र इस जिम्मेदारी को नैतिकता के साथ स्वीकार करे तभी वह अंगप्रदेश की संस्कृति को सुरक्षित रखते हुए अपने लिए संजीविनी भी जुटा पायेगा । वैसे डॉ. श्यामलाल आनन्द की इस बात को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि सारा दोष हम केन्द्र निदेशक डॉ. शिवमंगल सिंह 'मानव पर ही नहीं डाल सकते और न सारी अपेक्षाएँ ही कर सकते हैं । गड़बड़ियाँ जन्मी हैं प्रसार भारती के हस्तक्षेप से, जिसने आकाशवाणी को बाजार की ओर ढकेल दिया है । हमें यह भी देखना होगा कि केन्द्र निदेशक की योजनाओं में उनके सहयोगियों का कितना साथ है ।

लेकिन क्या, डॉ. आनन्द के पास इसका भी उत्तर है कि पिछले पाँच सालों से (अपवाद को छोड़कर) नये अंगिका नाटकों का प्रसारण क्यों न हुआ ? क्यों किशोर सिंह जैसे कलाकार, जो नाटको में प्राण डालने का काम करते रहे, उनका कोई संगीत प्रभाव-संयोजन सामने नहीं आया ? क्यों नहीं खेती-गृहस्थी में अंगिका भाषी किसानों और विद्वानों से अंगिका भाषा में भेंटवार्ता की जाती ? यह जानते हुए कि विद्वान और निरीक्षर किसान, इस प्रदेश के ग्रामीणों तक अंगिका भाषा के माध्यम से ही अपनी बातें प्रभावी ढंग से पहुँचा सकते हैं और जब तक ऐसा नहीं हो जाता, अन्य लोगों के साथ अखिल भारतीय अंगिका विकास मंच के संस्थापक महासचिव सुभाष पाण्डेय की इस शंका को भी नहीं मिटाया जा सकता कि भागलपुर की आकाशवाणी अंगिका और अंग संस्कृति के लिए लोककथा की सौत है, सास है, सौतेली माँ है । *(हिन्दुस्तान : ३ अप्रैल २००८)*

भगवान राम के पदरज से अंगप्रदेश का रोम-रोम भीगा है

जटायु ने देखा, आकाशमार्ग से अपने यान पर गुजर रहा रावण चारो दिशाओं को थर्राता आगे बढ़ा जा रहा है, जैसे, काले विशाल बादल के बीच तड़ित चंचला बनी रहती है, वैसे ही रावण की भुजाओं से मुक्त होने के लिए सीता छटपटा रही है। कि तभी अपने विशाल पंखों से आकाश को घेरते हुए गिद्धराज जटायु उस पर टूट पड़े । अपने अंत को निकट जान कर रावण ने आखिरकार चन्द्रहास खडग को खींच लिया, जिसके ही प्रहार से जटायु के पंख शरीर से अलग हो गये । रक्त लथपथ गिद्धराज जहाँ से आक्रमण के लिए उठे थे और जहाँ पर भूलुंठित हुए, वह जमुई जिला का वहीं गिद्धेश्वर पर्वत है, वहाँ आज जटायुधाम है, और जहाँ आज भी अगस्त्य मुनि से प्राप्त राम के धनुष की पत्थर आकृति सुरक्षित है । क्या पता, भगवान राम का धनुष इतने काल-प्रवाह के बाद पत्थर का बन गया हो । लोकविश्वास है कि सीता की खोज में जब राम अपने भाई लक्ष्मण के साथ गृद्धेश्वर कूट पहुँचे, तो जटायु की गति देख और उससे सारी कथा सुन बड़े विचलित हुए—जैसे कथा कहने के लिए ही उनके प्राण रुके थे। भगवान राम ने बड़ी श्रद्धा से गिद्धराज की अन्तिम क्रिया की ।

इस कथा को धार्मिक कथा का अंश कहकर हम इससे पिण्ड नहीं छुड़ा सकते हैं । इतिहास ग्रंथों के अध्ययन से इसकी सत्यता स्वयं स्थापित होती है । यह अलग बात है कि गिद्धराज जटायु, सचमुच में पक्षीराज थे याकि फिर कोई मानव ही, जिन्होंने बदन पर पंखों को बांध कर उड़ने का रहस्य जान लिया था या अपने पूर्व संस्कारों के कारण ही मानवेतर प्राणी होते हुए भी मानव व्यवहार में दक्ष थे ।

बात जो भी हो, लेकिन यह सोचने के लिए निरन्तर विवश करता है कि चन्द्रहास खड़गधारी पर, प्राणों को संकट में डालकर पक्षीराज सीता की रक्षा में टूट क्यों पड़े ? यह कोई आकस्मिक घटना नही थी । यह तो अंगदेस के चक्रवर्ती सम्राटों का राम के पूर्वज राजाओं से घनिष्ट संबंधों की परिणति थी । इतिहास प्रसिद्ध बात है कि अनुवंश ही परवर्त्ती काल में अंगवंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अंग-वंश बलिपुत्र सम्राट अंग के नाम पर चला, जिन्होंने अपने नाम से अपने साम्राज्य का भी नाम 'अंग' रखा था । चक्रवर्ती राजा दधिवाहन अंग के ही पुत्र थे, जो अंग के बाद गद्दी पर बैठे और दिविरथ दधिवाहन के पुत्र, जो अपने पिता

की मृत्यु के बाद सिंहासनारूढ़ हुए । उसी दिविरथ के पुत्र धर्मरथ थे, जो दिविरथ के बाद गद्दी के उत्तराधिकारी हुए । धर्मरथ के ही समकालीन थे, भगवान राम के पूर्वज सूर्यवंशी राजा दिलीप । धर्मरथ और दिलीप की गहरी निकटता थी, यह बात इससे भी समझ सकते हैं कि धर्मरथ के कहने पर दिलीप के पुत्र राजा रघु ने काशीराज को बन्दीगृह से मुक्त कर दिया था, जिसे राजा दिलीप ने बन्दी बनाया था ।

धर्मरथ और दिलीप की यह मित्रता वहीं तक नहीं रुकी, बल्कि धर्मरथ के पुत्र चित्ररथ और दिलीप के पुत्र रघु तक आगे बढ़ी ।

और जब चित्ररथ के पुत्र सत्यरथ अंगदेश के सिंहासन के उत्तराधिकारी हुए, तो उस समय कोशल में भगवान राम के पूर्वज नरेश अज सिंहासनासीन थे। सत्यरथ और अज की मित्रता की कहानियाँ पुराणों और स्मृतियों में बिखरी पड़ी हैं । शिकार खेलते कभी अज सत्यरथ के मेहमान होते, तो कभी सत्यरथ अज के। पुराण में उल्लिखित है कि एक बार जब नरेश अज अंग के राजभवन में ठहरे हुए थे, तभी सत्यरथ को पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई और तभी कौशल से एक दूत यह सम्वाद लेकर आया कि नरेश अज को भी पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई है । पंडितों ने दोनों के जन्म पर विचारा और निर्णय हुआ कि दोनों के नाम दशरथ ही हो—यही हितकर है । इस तरह अयोध्या (कोशल), और अंग (मालिनी) में एक साथ दो दशरथ का जन्म हुआ । पुराण प्रसिद्ध बात है कि अंग के दशरथ के देह में कालक्रम में घने रोम उग आये थे, उसीसे कालान्तर में वह रोमपाद के नाम से भी जाने गये । इसका उल्लेख इतिहासकार कनक लाल चौधरी कणीक ने अपनी पुस्तक 'डिस्कवरी ऑफ लॉस्ट ग्लोरी' में भी किया है ।

अपने बाल्यकाल में ही अंगदशरथ के पितृविहीन हो जाने के कारण न केवल उन्हें गद्दी को संभालना पड़ा, बल्कि कोशल से सम्पर्क भी टूट गया । लेकिन आखेट के क्रम में जब जंगल में दोनों दशरथ मिल गये तो रिश्ता पुनः जुड़ गया और जुड़ा तो दोनों साढ़ू हो गये । काशी नरेश की जिस ज्येष्ठ पुत्री के साथ अंगदशरथ का विवाह हुआ था, उसी की छोटी बहन से अयोध्या के दशरथ ने भी विवाह किया । जबकि काशी नरेश को कोशल नरेश घृणा से देखते थे और इसी क्रोध के कारण अज ने अवध के दशरथ की तीन-तीन शादियाँ कर दीं, ताकि वह काशी नरेश की पुत्री को ही भूल जाए । उस समय काशी नरेश की पुत्री गर्भवती थी । जब उसने जाना कि अवध के दशरथ की तीन-तीन शादियाँ हो गईं हैं और वह उसे याद भी नहीं करते, तो एक पुत्री के जन्म के बाद उसने अपने प्राणों को ही त्याग दिया । आगे चल कर वही पुत्री शांता के नाम से विख्यात हुई, जिसे

अवध के दशरथ ने अंग के दशरथ को दत्तक पुत्री के रूप में सौप दिया था । इसी शांता का विवाह अंगदेस के महर्षि श्रृंग से हुआ । आगे चलकर अंग के दशरथ के अनुरोध पर ही दामाद श्रषिश्रृंग ने अवध के दशरथ की तीन रानियों—कौशल्या, कैकेयी, सुमित्रा के लिए पुत्रेष्टि यज्ञ किया, जिसके कारण उन्हें राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न की प्राप्ति हुई । अंगदशरथ के अनुरोध पर ही ऋष्य श्रृंग शांता के साथ अयोध्या गये, वहाँ रहे, फिर लौट आये । यह कथा बाल्मीकि रामायण में भी विस्तार से है ।

जब अंगदशरथ के बाद उनका पुत्र चतुरंग मालिनी के राजा बने और अयोध्या के दशरथ ज्येष्ठ पुत्र राम को गद्दी सौप कर राज-काज से मुक्त हुए, तब अंग और अयोध्या की अनूठी मैत्री और अपनी जन्मकथा को जानकर राजा राम ने सबसे पहले अंगप्रदेश की यात्रा की, उस समय जगतजननी सीता भी उनके साथ थी और भगवान राम जब अंगदेश के पवित्र स्थलों का भ्रमण कर रहे थे, तब अंगनरेश चतुरंग उनके साथ-साथ ही रहे । इसी अंगयात्रा के क्रम में भगवान राम ने पहली बार गंगाधाम (सुल्तानगंज) से गंगाजल को कामर में लिया था और पैदल ही वैद्यनाथ धाम पहुँचे थे, कथा तो ऐसी भी मिलती है कि तब विदेह के राजा जनक भी बुला लिए गए थे । ऐसी थी राम और चतुरंग की मित्रता ।

और ऐसा तो नहीं ही हो सकता है कि महाराज धर्मरथ से लेकर चतुरंग तक आनेवाली अंग और अयोध्या की इस घनिष्टता को अंगदेस के गिद्धराज जटायु नहीं जानते होंगे । जरूर जानते होंगे, और भगवान राम से कुछ ज्यादा ही। यही कारण था कि जब सीता को अपहृत कर वायुमार्ग से रावण को भागते जटायु ने देखा, तो अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ उस पर आक्रमण किया । और ऐसा होता भी क्यों नहीं, सीता तो अंग की सवासिन-सी ही थी । 'डिस्कवरी ऑफ लॉस्ट ग्लोरी' के लेखक कनक लाल चौधरी कणीक ने मुझे जानकारी दी है कि विदेह से अयोध्या को जाती देवी सीता ने मायके का अन्तिम पानी अंगप्रदेश के सिमरिया के गंगातट पर ही पीया था, जहाँ सरयू और विदेह की सीमा मिलती है।

मैं सोचता हूँ, तब अंगप्रदेश में राम-सीता से जुड़े जो तीर्थस्थल हैं, और उनके लिए जो लोकविश्वास प्रचलित हैं, वे झूठ कैसे हो सकते हैं ? लोकविश्वास तो यहाँ तक है कि जब भगवान राम लंका पर आक्रमण के लिए बानर सेना के साथ बढ़ रहे थे, तब बंदर रास्तें के बड़े-बड़े पहाड़ों को तोड़ते, उसके शिलाखंड को लुढ़काते-उठाते आगे बढ़े थे । बाँका जिले के पर्वतीय क्षेत्रों में बिखरे शिलाखंडों के संबंध में यही लोकधारणा अब तक स्थिर है ।

अंग और अवध चतुरंग तथा भगवान राम की उसी अभिन्न मित्रता को

वर्त्तमान का यह अंगप्रदेश आज भी अपने हृदय में संजोए हुआ है, और उस स्मृति से स्वयं भी पुलकता रहता है । कभी रामचरित को गीतों में बांध कर अपनी श्रद्धा व्यक्त करता है, तो कभी प्रबन्ध काव्य रचकर और कभी दृश्य काव्य की रचना से और नहीं तो कभी रामायण के पात्र जटायु को काव्य-पात्र बना कर यहाँ तक कि मंथरा पर भी प्रबन्ध रच कर । 'स्वाति के मेघ (बैकुण्ठ बिहारी), सती परीक्षा (सुमन सुरो), द्वैतांगिनी (कनक लाल चौधरी कणीक), जटायु (यजुनन्दन झा), मंथरा (जगदीश पाठक मधुकर) अंगिका भाषा में रामकथा पर लिखे अमरकाव्य हैं, तो अंगिका के ही कवि श्रीउमेश का हिन्दी प्रबन्ध 'कैकेयी का अन्तर्द्वनद्व' भी भगवान राम के प्रति अंगप्रदेश की श्रद्धा का प्रमाण है, जिसकी नींव अंगवंश के आरम्भ में रखी गई थी, जो काल के प्रवाह में और भी वेगवान होती हुई अंग के रोम-रोम में समा गई है । राम नाम की छाया में चलता हुआ यह अंगप्रदेश राम के जन्मोत्सव पर जाने कितना तो भाव विह्वल हो उठता है ! आखिर क्यों नहीं हो—राम की जन्मकथा तो अंग की ही ऋषिकथा है । तभी तो राम के जन्म की खबर पाते ही अंग के रोम-रोम का संगीत झंकृत हो आता है :

मचिया बैठली मातु कौसिला बालक मुख निरखल हो
ललना रे, मोरा बेटा परान के आधार, नैन बीच राखब हो
कोसिला लुटाबै अन धन सोनमा केकई रथ-पलकिया न हो
ललना रे सुमितरा लुटाबै हथकंगना दशरथ घर बधैया बाजै हे ।

(हिन्दुस्तान : १७ अप्रैल २००८)

'जों कोय मारतै गोली, बोलवै अपने बोली'

जब अंगिका के महाकवि सुमन सूरो ने अंगिका-चेतना को मजबूती देने के लिए इस लोकप्रिय गीत का सृजन किया था, इसके पूर्व से ही साहित्यकार डॉ. माहेश्वरी सिंह महेश और बरारी स्टेट के ठाकुर परिवार ने अंगिका में ही अपने को अभिव्यक्त करने का संकल्प ले लिया था। ठाकुर परिवार के अंगिका-प्रेम की कहानियाँ मैंने कथाकार रंजन से सुनी हैं। डॉ. महेश के अंगिका-प्रेम की कथा तो जगजाहिर है कि किस तरह लंदन की सड़कों पर भी अपने लोगों से अंगिका में ही संवाद करते रहे। जब अंगिका भाषा और साहित्य पर डॉ. महेश का एक विस्तृत आलेख बिहार राष्ट्रभाषा परिषद से प्रकाशित पुस्तक 'पंचदश निबंधावली' में प्रकाशित होकर आया, तो अंगिका-चेतना सीधे-सीधे व्यस्क-वय में आ चुकी थी। कारण था कि हिन्दी के प्रख्यात आलोचक डॉ. लक्ष्मी नारायण सुधांशु, हिन्दी, संस्कृत के प्रखर विद्वान पं. गदाधर अंबष्ठ सीधे-सीधे अंगिका-विकास से जुड़ गये थे। यह वही युग था, जब डॉ. परमानंद पांडेय और नरेश पांडेय चकोर भी अपनी-अपनी पत्रिका 'अंगिका' और 'अंग माधुरी' को लेकर अंगिका लोगों के बीच आ गये थे। पं. अंबष्ठ की प्रेरणा से निकली अंगिका पत्रिका ने अंगिका साहित्य के सृजन के लिए एक नया लोक ही सृजित कर दिया था। राष्ट्रीय स्तर के प्रख्यात साहित्यकार डॉ. मधुकर गंगाधर, डॉ. कुमार विमल, डॉ. वचनदेव कुमार भी इसी पत्रिका के माध्यम से अंगिका लोगों के बीच आए। आज तक अंगिका-सृजन के लिए प्रतिबद्ध डॉ. तेजनारायण कुशवाहा भी उसी युग उपलब्धि हैं जिन्होंने अंगिका साहित्य की सभी विधाओं में सृजन किया है, यहाँ तक कि भाषा-शास्त्र पर भी। वैसे अंगिका के व्याकरण को सुगठित रूप देने में डॉ. कामेश्वर शर्मा का योगदान ऐतिहासिक है, जिन्होंने भागलपुर जिले की बोली पर पी-एच.डी की प्रथम उपाधि बिहार विश्वविद्यालय से 1965 ई प्राप्त की थी। बाद में डॉ. परमानंद पाण्डेय, डॉ. शुकदेव सिंह, डॉ. डोमन साहु समीर और डॉ. तेज नारायण कुशवाहा ने अंगिका भाषा और व्याकरण पर उल्लेखनीय ग्रंथों का सृजन किया। डॉ. समीर ने न केवल अंगिका व्याकरण लिखा, बल्कि अंगिका-हिन्दी-शब्दकोष का भी प्रथम बार सृजन किया। सिद्ध-साहित्य में अंगिका भाषा के रूप पर इन्होंने विस्तृत लेख लिखकर इस दिशा में अध्ययन का द्वार खोला, जिसकी ओर संकेत महापंडित राहुल सांकृत्यायन भी अपनी पुस्तक से पहले ही कर चुके थे। स्मरण रहे कि अंगिका भाषा पर अंगिका के हरिशंकर परसाई कहे जानेवाले श्रीउमेश और श्री अंबष्ठ ने

भी अंगिका व्याकरण का निर्माण किया था, जिसका उल्लेख कई स्थलों पर आया है। वैसे बाद में कवि श्रीउमेश भाषाशास्त्र-विवेचन से अलग होकर व्यंग्य के साहित्य से जुड़ गये, जिस परंपरा को ही आगे सदानंद मिश्र साहित्यिक साँढ, दीप नारायण सिंह, सुभाष भ्रमर, डॉ. निवास चंद्र ठाकुर, रमाशंकर मिश्रा पंकज, कमला प्रसाद सिंह बेखबर, गुरेश मोहन घोष सरल, भुवनेश्वर सिंह भुवन, जगदीश पाठक मधुकर, हीरा प्रसाद हरेन्द्र, रामावतार राही, शिवनंदन सलिल, डॉ. मनोज पाण्डेय ने और भी मजबूत किया। वैसे बाद के व्यंग्यकार गद्य के नहीं, कविता में हास्य-व्यंग्य के व्यंग्यकार अधिक हैं। स्मरण रहे कि दीप नारायण सिंह अंगिका के पहले उपन्यासकार समझे जाते हैं। 'जरलोॅ दीया' यही उनके उस अप्रकाशित उपन्यास का शीर्षक था और जिनकी कहानियाँ आज भी चित्रशाला में बिखरी पड़ी हैं, लेकिन प्रकाशित रूप में पहला उपन्यास 'नया सूरज-नया चान' बिहार के प्रेमचंद कहे जानेवाले अनूप लाल मंडल का ही है, जिस परंपरा को श्रीकेशव, सुमन सूरो, डॉ. आभा पूर्वे, डॉ. मृदुला शुक्ला, महेन्द्र जायसवाल, अनिरुद्ध प्रभाष, अनिरुद्ध प्रसाद विमल, कनक लाल चौधरी कणिक जैसे कथालेखकों ने कई-कई उपन्यासों का सृजन कर और भी सशक्त किया है। और देखें तो जिस सशक्त कहानी विधा का आरंभ डा. परमानंद पाडेय के 'सात फूल' से हुआ था, उस विधा को इन उपन्यासकारों के अतिरिक्त कुंदन अमिताभ, सुधाकर, डॉ. विद्या रानी, डॉ. प्रतिभा राजहंस, नरेश जनप्रिय, नवीन निकुंज, सुरेन्द्र प्रसाद यादव, सुधीर प्रोग्रामर जैसे कहानीकारों ने और भी समृद्ध किया।

अंगिका का आदिकाल भले ही सिद्ध कवियों के काव्य से हुआ हो, लेकिन आधुनिक काल के अंगिका लेखकों ने किसी एक विशिष्ट विधा में लिखने की जगह, साहित्य की सभी विधाओं में साहित्य लिखा है। 'अंगिका रामायण' के महाकवि विजेता मुद्गलपुरी कवि भी हैं, तो 'हम्मेॅ सुरदासमुख नै छकियै' उपन्यास के लेखक भी। डॉ. तेजनारायण कुशवाहा, सुमन सूरो महाकवि भी हैं और भाषाशास्त्री भी। डॉ. अभयकांत चौधरी, अनिरुद्ध प्रभाष, अनिरुद्ध प्रसाद विमल जैसे साहित्यकारों के लिए भी यही कहा जायेगा।

वैसे आधुनिक युग में भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि कवियों की पंक्ति ही सबसे लंबी है। डॉ. सत्यानंद, त्रिलोकी नाथ दिवाकर, मनजीत सिंह किनकार, कुमार गौरव, भवानंद, से शुरू कर अगर पूर्व में ही कवि रूप में प्रसिद्धि पा चुके भवप्रीता नंद ओझा, संत चंदर दास, महर्षि मेंही, उचित लाल सिंह, अच्युतानंद चौधरी लाल, द्विवेदी सच्चिदानंद श्रीस्नेही, डॉ. सुरेन्द्र झा परिमल, कुमार भागलपुरी, परशुराम ठाकुर ब्रह्मवादी, छोटे लाल दास, भगवान प्रलय, दिनेश बाबा, हीरा प्रसाद

हरेन्द्र, अंजनी कुमार शर्मा, मुरारी मिश्र, कैलाश झा किंकर, डॉ. जटाधर दुबे, अनिल कुमार झा, ब्रह्मदेव कुमार, डॉ. मीरा झा, मीरा झा (नौगछिया), सांत्वना साह, अर्चना झा, रुपम झा, कुमुद रंजन झा, माधवी चौधरी, राहुल शिवाय, परमानंद प्रेमी, सूर्य नारायण, रामशर्मा अनल, राजकुमार, खुशीलाल मंजर, अश्विनी प्रजावंशी, डॉ. प्रदीप प्रभात, आमोद कुमार मिश्र, रघुनंदन झा राही, सुभाष भ्रमर, शंभुनाथ मिस्त्री, डॉ. मधुसूदन साह, डॉ. श्यामसुंदर घोष, लगभग चार सौ के आसपास आधुनिक युग के साहित्यकार पहले अंगिका कवि ही हैं। हाँ इनमें चंद्रप्रकाश जगप्रिय और ई. नंदलाल यादव सारस्वत अवश्य ही विशिष्ट हैं कि इन दोनों कवियों ने अंगिका में 'शहीद प्रभुनारायण सिंह' तथा 'शहीद महेन्द्र गोप' जैसे ओजपूर्ण काव्य रचकर भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को स्वर दिया। देश में आज स्वतंत्रता-संग्राम का अमृत महोत्सव मनाया जा रहा है और अंगिका में लिखे 'शहीद प्रभुनारायण सिंह' और 'शहीद सम्राट महेन्द्र गोप' जैसे वीर काव्यों की साहित्यिक उपेक्षा यह बताने के लिए काफी है कि अंगिका में लिखे 'सवर्णा', 'उर्ध्वरेता', 'मंथरा' जैसे महाकाव्य आज भी क्यों आलोचकों की दृष्टि से दूर हैं और क्यों सरहपाद से लेकर भुवनेश्वर सिंह भुवन, हंस कुमार तिवारी, पं रामेश्वर झा द्विजेन्द्र, प्राण मोहन प्राण और सुभाष भ्रमर की अंगिका रचनाओं को समाज और साहित्य के बीच कभी आने नहीं दिया गया। वैसे यह भी सही है अंगिका का सूर्य अब दक्षिणायन नहीं, उत्तर दिशा में गतिवान है क्यों कि इसके पास इतिहास, भूगोल और भाषा का खुला इतिहास है, जिसके पन्ने आधुनिक विद्वान रामधारी सिंह दिनकर, वैद्यनाथ पाण्डेय, राधाबल्लभ शर्मा, डॉ. बहादुर मिश्र, डॉ शिव नारायण, ज्योतिष चंद्र शर्मा और इतिहासकार राजेन्द्र सिंह से ही नहीं खुले हैं, बल्कि वेद, महाभारत, बाल्मीकि रामायण से लेकर पुराण के पन्ने तक अंगिका और अंग की प्राचीनता को खुले कंठ से कह रहे हैं।

परिणाम सामने है—बाबा की नगरी देवघर से भारत के प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी भी अंगिका भाषा में हीं अंग प्रदेश का हाल-चाल पूछने लगे हैं—''की हाल छै?''

(दैनिक भास्कर : २४ जुलाई २०२२)

डॉ. अमरेन्द्र : एक परिचय

■ काव्य, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध, आलोचना की विधाओं में अब तक सत्तर से अधिक पुस्तकों का सृजन ।

■ तीन दर्जन से अधिक प्रसारित रेडियो नाटक की पांडुलिपियाँ इधर-उधर पड़ी हुई।

■ प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तक और ग्रन्थों में दर्जनों लेखों का प्रकाशन।

■ सम्प्रति : वैखरी (हिन्दी), पुरवा (अंगिका) पत्रिकाओं का सम्पादन ।

■ सम्पर्क : लाल खां दरगाह लेन, सराय भागलपुर-८१२००२ (बिहार) ।
मो. ८३४०६५०६७९, ९९३९४५१३२३
ई-मेल : dramrendra.ang@gmail.com
website : www.dramrendra.com